अतीत के चित्र

संपादक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
(सुधा-संपादक)

उत्तमोत्तम उपन्यास और कहानियाँ

रंगभूमि (दोनो भाग)	५), ६)	सीधे दाँव	१॥), २)
बहता हुआ फूल	२॥), ३)	अबला	१), १॥)
हृदय की परख	१), १॥)	मधुपर्क	१॥), २)
चित्रशाला (दो भाग)	३), ४)	मा	३), ३॥)
हृदय की प्यास	२), २॥)	कर्म-मार्ग	१॥), २)
मिस्टर व्यास की कथा	२॥), ३)	पाप की ओर	१), १॥)
नंदन-निकुंज	॥), १)	अप्सरा	१), १॥)
प्रेम-प्रसून (प्रेमचंद)	१=), १॥=)	गिरिबाला	१), १॥)
प्रेम-पंचमी (,,)	॥), १)	कर्म-फल	१॥॥), २)
प्रेम-द्वादशी (,,)	१), १॥)	तूलिका	१), १॥)
प्रेम-गंगा	१), १॥)	अश्रुपात	१), १॥)
गढ़-कुंडार	२॥), ३)	जासूस की डाली	१॥), २)
विराटा की पद्मिनी	२॥), ३)	विचित्र योगी	१), १॥)
केन	१), १॥)	पवित्र पापी	३), ३॥)
मंजरी	१), १॥)	गोरी	१), १॥)
पतन	१॥), २)	मृत्युंजय	॥), १)
जब सूर्योदय होगा	१), १॥)	प्रतिमा	१॥), २)
बिदा	२॥), ३)	मदारी	१॥), २)
भाई	१), १॥)	लिली	१), १॥)
प्रेम-परीक्षा	॥=), १=)	संध्या-प्रदीप	१), १॥)

सब प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता—

संचालक गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ

गंगा-पुस्तकमाला का १९९वाँ पुष्प

अतीत के चित्र

[कहानियों का संग्रह]

लेखिका

श्रीकुमारी सुशीला आगा बी० ए०

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

३०, अमीनाबाद-पार्क

लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सजिल्द १=)] सं० १९९३ वि० [सादी ॥=)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

-प्रेमोपहार-

अतीत के चित्र
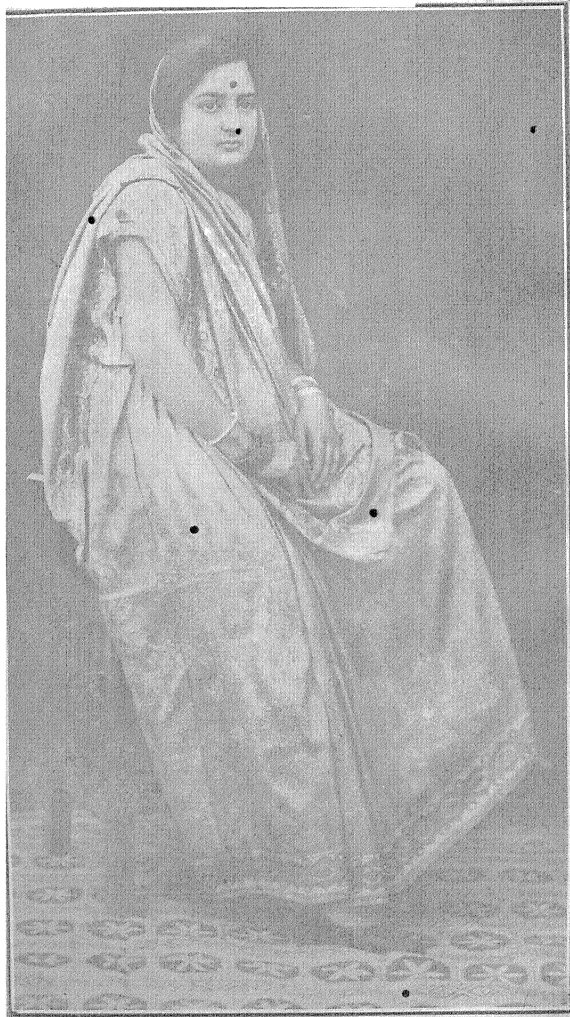
कुमारी सुशीला आगा बी० ए०

भूमिका

श्रीकुमारी सुशीला आगा हिंदी की प्रसिद्ध कहानी-लेखिका हैं। इस पुस्तक में आपकी ६ कहानियों का संग्रह है। ये कहानियाँ सुधा आदि पत्रों में, समय-समय पर, प्रकाशित हो चुकी हैं। आपकी कहानियाँ एक-से-एक बढ़कर और भाव-पूर्ण हैं। भाषा भी सुंदर और सरस है। घटना-क्रम ऐसी उत्तमता से वर्णित है कि पढ़ने में अपूर्व आनंदानुभव होता है। आशा है, हिंदी-संसार उनके इस संग्रह का यथेष्ट आदर करेगा।

कवि-कुटीर
लखनऊ, २१।८।३६ } दुलारेलाल भार्गव

सूची

प्रायश्चित्त

रमेश की मा आज उन स्त्रियों में गिनी जाती हैं, जिनका सौभाग्य-चंद्र सोलहो कलाओं से पूर्ण है; और सबको सुख तथा शीतलता पहुँचाने का साधन है। हो भी क्यों न, भगवान् ने उन्हें चार-चार होनहार पुत्रों की माता बनाकर अपनी दया की गागर उन पर उँडेल दी है।

रमेश इस समय फ़ौज में साढ़े पाँच सौ का नौकर है। रमेश के नाम से जो ख्याति माता को प्राप्त हुई है, वह पति के नाम से भी कभी न मिली थी। जब से रमेश ऊँचे ओहदे पर नौकर हुआ है, लोग उन्हें हीरालाल की पत्नी न कहकर 'रमेश की मा' की उपाधि से संबोधन करते हैं।

इस बेकारी के समय में, जब कि बड़े-बड़े डिग्री-प्राप्त लोग पचास रुपए तक की नौकरी के लिये ठोकरें खाते फिरते हैं, रमेश के इस प्रकार बढ़ जाने पर उनकी बिरादरीवालों की दृष्टि रमेश पर ही जम गई। जिसे देखिए, वही चिट्ठी-पर-चिट्ठी भेजता है कि उसकी लड़की से रमेश का ब्याह हो जाय, परंतु रमेश की मा गर्व से सिर हिला देती हैं—"मैं अभी रमेश का ब्याह नहीं करूँगी।" बस, यही उनका उत्तर

है। लोग भी चुप हो जाते हैं। जानते हैं, रमेश की मा के कोई पुत्री नहीं है, इसी कारण बेटीवालों के लिये उनके हृदय में सहानुभूति नहीं है।

रमेश की मा के पड़ोस में उनके स्वजातीय बाबू मदनमोहन डिप्टी-कलेक्टर रहते हैं। उनकी पत्नी और रमेश की मा में विशेष मित्रता है। डिप्टी साहब के दो लड़कियाँ हैं। एक तो बी० ए० में पढ़ रही है, और दूसरी आठवीं कक्षा में। डिप्टिआइनजी के कहने के अनुसार सरोज और शांता ही उनके लिये आम और इमली दोनो हैं; क्योंकि पुत्र-सुख के सौभाग्य से वह वंचित हैं।

सरोज और शांता दोनो हीरालालजी के घर आती-जाती हैं, और रमेश तथा उसके छोटे भाइयों से स्वतंत्रता-पूर्वक बातचीत करती हैं। यहाँ तक कि सबको ज्ञात है कि सरोज और रमेश में बड़ी घनिष्ठता है।

रमेश की नौकरी लगने के दो वर्ष बाद तक सरोज की माता इसी आशा में बँधी बैठी रहीं कि रमेश की मा स्वयं सरोज और रमेश के विवाह-संबंध की चर्चा करेंगी, परंतु जब मुहूर्त आता दिखाई नहीं दिया, तो विवश होकर उन्हें स्वयं कहने का साहस एक दिन करना ही पड़ा। बड़ी नम्र वाणी से वह बोलीं—"बहन, बहुत दिनों से मेरे मन में एक बात है, आज साहस करके कहती हूँ। मेरी इच्छा है, सरोज और रमेश......"

सरोज की माता ताड़ गईं। वाक्य पूरा भी न हो पाया था कि वह बीच ही में बोल उठीं—"बहन, तुम जानती हो, रमेश अभी बाईस वर्ष का है। जल्दी क्या है, अभी बहुत समय पड़ा है, देखा जायगा।"

"परंतु मैं तो केवल सगाई पक्की करने को कहती हूँ।" सरोज की माता ने बड़ी उत्सुक वाणी में कहा।

"मैं इसकी भी जल्दी नहीं समझती। अभी सरोज को एम्० ए० पास करने को तीन वर्ष हैं, फिर हो जायगा।"

सरोज की माता उनका टालने का ढंग ताड़ गईं। रमेश की माता के साथ इतने समय रह लेने पर उन्हें इस बात का पक्का अनुभव हो गया था कि रमेश की मा धन को सबसे महत्त्व का स्थान देती हैं। यही कारण था कि उनकी लड़की पढ़ी-लिखी, सीधी-सादी और सुंदर होने पर भी उनकी आँखों में न जँची। अवश्य जो कुछ डिप्टी साहब ने अपनी कमाई में से बचाया था, वह इन्हीं दोनो के भाग्य का था, परंतु वह धन जागीर का मुक़ाबला करने योग्य नहीं था।

सरोज की माता अपनी आशाओं पर पानी पड़ जाने से बड़ी निराश हुईं, और एक टूटा हृदय लिए घर लौट आईं। सरोज उसी समय कॉलेज से आई थी। मा को इस प्रकार उदासीन मुख लटकाए देख उससे भी न रहा गया। पूछ बैठी—"मा, तुम उदास क्यों हो ? क्या चाची

(सरोज रमेश की मा को चाची कहती है) से कुछ झड़प हो गई ?"

डिप्टिआइन ने बात टालते हुए कह दिया—"कुछ नहीं, यों ही तनिक सोच में पड़ गई थी।"

इस थोड़े-से उत्तर से सरोज की शंका का समाधान न हो सका। रमेश से पूछने का निश्चय कर वह शीघ्रता से जल-पान करने लगी।

उधर जब रमेश घर पहुँचा, तो माता ने सारा कच्चा चिट्ठा कह सुनाया, और पूछने लगीं—"क्यों बेटा, मैंने ठीक किया न ? अभी जल्दी क्या है। तुझे तो अमीर-से-अमीर लड़की मिल जायगी। सरोज तो एक साधारण लड़की ठहरी।"

रमेश ने "हूँ" द्वारा अपनी माता के सब प्रश्नों का उत्तर दे दिया, और बाहर जाकर भाइयों के साथ टेनिस खेलने लगा। सरोज और शांता इसी समय आ पहुँचीं। रमेश शिष्टाचार के साथ अपना रैकेट उन लोगों को देने लगा। सरोज ने धीरे से कहा—"मैं खेलूँगी नहीं रमेश दादा, तुमसे कुछ पूछना है।" शांता रमेश का रैकेट लेकर खेलने लगी, और सरोज तथा रमेश वहीं अलग जा बैठे। सरोज बोली—"रमेश दादा, मा जब से चाची के पास से लौटी हैं, बड़ी उदास हैं। मैंनें कारण पूछा, तो उन्होंने कुछ बताया नहीं। क्या आपको मालूम है ?"

रमेश बात ताड़ गया। हँसकर टालने का प्रयत्न करते हुए

बोला—"क्या मालूम सरोज, उन लोगों की बातें वे ही समझें, हमें क्या करना है।"

सरोज रमेश की ओर निहारती हुई बोली—"आप जानते हैं, परंतु छिपाना चाहते हैं। अच्छी बात।" वह चलने को प्रस्तुत हो गई। रमेश जल्दी से बोल उठा—"बैठो, यदि तुम इतनी इच्छुक हो, तो मैं अवश्य सुना दूँगा।"

"तो सुनाइए न?" सरोज बोली।

रमेश बोला—"यों ही चाची ने तुम्हारे विवाह के विषय में अम्मा से कुछ कहा था।"

रमेश की बात सुनते ही सरोज के मुख का रंग पीला पड़ गया। उसे नहीं मालूम था, ऐसी बात होगी, नहीं तो वह भूलकर भी न पूछती। वह चुपचाप कुछ समय तक वहीं बैठी रही। इस बीच में दोनो में कुछ बातचीत न हुई। इतने में सब लोग खेल समाप्त करके लौट आए। सरोज को अवसर मिला। दोनो बहनें चलने को प्रस्तुत हुईं। रमेश पहुँचाने के बहाने साथ हो लिया।

रास्ते-भर रमेश प्रयत्न करता रहा कि सरोज कुछ बोले, परंतु वह चुप थी। न-जाने किन विचारों में मग्न। जिन्हें रमेश प्रयत्न करने पर भी पढ़ न सका। घर पहुँचकर शांता ने रमेश से भीतर चलने को कहा, परंतु यह उचित न समझकर वह बाहर से ही लौट आया। लौटती बार उसने एक बार अपने नेत्र उठाकर सरोज की ओर देखा।

सरोज ने केवल दोनो हाथ जोड़कर सिर नीचा कर लिया। उसके नेत्रों में रमेश ने देखा एक भग्न हृदय और बिखरे हुए स्वप्न का दृश्य।

उस दिन के बाद से सरोज और उनके घर के लोगों ने रमेश के यहाँ आना-जाना बंद कर दिया। यदि सरोज कभी थोड़ी देर को आती, तो चुपचाप बैठी रहती। रमेश ने यह सब देखा, समझा और एक दिन माता से कह बैठा—"अम्मा, यदि मैं सरोज से विवाह कर लूँ, तो बुराई ही क्या है, अच्छी लड़की तो है।"

मा बोली—"बेटा, वैसे तो कुछ हर्ज नहीं। मेरी सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि ऐसी सुंदर बहू लाऊँ, जिससे घर में प्रकाश-ही-प्रकाश दिखाई पड़े। वह हीरे-पन्नों से लदी रहे। तभी लोग आँखें फाड़-फाड़कर मेरी बहू को देखेंगे, और कहेंगे, रमेश की मा स्वर्ग से अप्सरा उतार लाई हैं।"

रमेश मा की बातें सुनकर अधिक कुछ कह न सका, क्योंकि मा की बात काटना उसने सीखा ही न था। सदा से मा ने रमेश का मस्तिष्क ऐसी बातों से भर रक्खा था। वह अपने मन में कल्पना की सहायता से मा की बताई हुई सुंदरी गढ़ता, परंतु वह अधबनी ही जाने कहाँ लोप हो जाती, और उसके स्थान पर एक भोली-सी सूरत नेत्रों के चारो ओर नृत्य करती दिखाई पड़ती, और वह थी सरोज।

समय की गोद में चार वर्ष और खेल गए। सरोज अब

एम्० ए० पास करके एक स्कूल में प्रधान अध्यापिका का कार्य करने लगी है। रमेश की बदली हुए भी इस समय तीन वर्ष हो चुके हैं। इस बीच में वह केवल दो-तीन बार घर आया, परंतु सरोज से मिलने का अवसर कभी न आया।

विवाह न करने का सरोज ने निश्चय-सा कर लिया है। वह विवाह-बंधन से घृणा करने लगी है। उसे विश्वास हो गया है कि पुरुष स्वार्थी होते हैं, उनके लिये अपने सुख की बलि करना मूर्खता है।

सरोज स्कूल के ऑफ़िस में बैठी कार्य कर रही थी, इतने में चपरासी ने एक लिफ़ाफ़ा लाकर उसके हाथ में रख दिया। सरोज ने खोलकर पढ़ा। रमेश के विवाह का निमंत्रण था। विवाह हीरालालजी के घर से होगा। और, किसके साथ? 'जेन टॉमस' यह कौन है?

सरोज बराबर निमंत्रण-पत्र पढ़ती, पर आँखों को विश्वास न होता। हस्ताक्षर रमेश के थे। अधिक न बैठ सकने के कारण सरोज जल्दी ही घर लौट आई। सरोज की मा ने रमेश के विवाह की बात सुनी। सरोज ने पूछा—"क्यों मा, हम चलेंगे?"

"क्यों नहीं, बेटी! मुझे देखना है, रमेश की मा कहाँ से ढूँढ़कर अप्सरा लाई है। उसके हीरों पर हमारे नेत्र जमते हैं या नहीं।"

सरोज के हृदय में प्रेम की ज्वाला तो कभी की शांत हो

चुकी थी, परंतु उस राख के ढेर से कभी-कभी थोड़ी चिनगारियाँ निकल पड़ती थीं। आज उन पर भी पानी पड़ गया। वह कमरे में जाकर अपने पलँग पर लेट गई। हृदय का आवेग अपनी राह बह निकला। इस स्थिति में माता ने सरोज को देख लिया। बोलीं—"बेटी, इस प्रकार रोकर हृदय क्यों दुखाती है? भाग्य उस क्रिस्टान के चमकने थे।"

सरोज हँस पड़ी—"किसी की प्रसन्नता पर हमें रोने का क्या अधिकार मा, ये आँसू तो हर्ष के हैं।"

रमेश के विवाह का दिन आ पहुँचा। सरोज, शांता और उनके माता-पिता भी दावत खाने पहुँच ही गए। अंतरजातीय विवाह था, पति-पत्नी दोनो तैयार होकर कोर्ट गए। सरोज इत्यादि जब हीरालालजी के घर पहुँचे, उस समय वर-वधू के स्वागत की तैयारी हो रही थी। वह घड़ी भी आ पहुँची। द्वार पर एक मोटर आ लगी, और भीतर से रमेश एक युवती का हाथ पकड़े बाहर निकल आए। लड़की देखने में साधारण और साँवले रंग की थी। सबने वर-वधू और उनके माता-पिता को बधाई दी। सरोज की मा ने भी दिल के फफोले फोड़ने का उचित अवसर देखकर कहा—"बहनजी, बहू तो तुम्हारी बड़ी अच्छी है। भगवान् सबको ऐसा सुख दे।"

रमेश की मा इस व्यंग्य को पी गई। सूखी हँसी हँसकर केवल इतना ही उत्तर दिया—"जो बिंध गया, सो मोती है।

बहन, रमेश ऐसे फिसलनेवाला नहीं है, अवश्य ही लड़की में कोई विशेष गुण होगा, जिस पर रमेश रीझ गया है।"

डिप्टिआइन हँसकर बोलीं—"हाँ, बहन, भगवान् करे इनका प्रेम अटल हो, और तुम्हें सुख देखना नसीब हो।"

बात यहीं समाप्त हो गई। रमेश की मा एक विचित्र ढंग से इधर-से-उधर फिर रही थीं। लोग उनके भाव पढ़ने का प्रयत्न कर रहे थे, और वह छिपाने का।

उपहार देने का समय आया, तो सरोज ने रमेश के हाथ में एक चाँदी का सिगरेट-केस और एक दो सौ रुपए का चेक रख दिया। यह उसका एक मास का वेतन था। रमेश ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए उपहार ले लिया, परंतु आँख उठाकर वह सरोज की ओर देख न सका।

दो वर्ष और निकल गए। इस बीच में सरोज और रमेश की मा में फिर से कुछ-कुछ मेल हो गया। सरोज और शांता भी कभी चाची से बातें करने पहुँच जातीं। बातों-बातों में रमेश की चर्चा चलती, तो चाची ठंडी आह भरकर कहतीं—"क्या हुआ? कैसी पट रही है। पति-पत्नी में रमेश तो कभी भूलकर भी चिट्ठी में जेन की चर्चा नहीं करता।"

गर्मी की छुट्टियाँ थीं। सरोज दिन के समय चाची के पास बैठी बातें कर रही थी। इतने में द्वार पर शब्द हुआ। सरोज ने उठकर किवाड़ खोले, तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न

रहा। रमेश सामने खड़ा था। आँखें चार होते ही सरोज द्वार पर से खिसक गई। रमेश लपककर मा के गले से लिपट गया। मा ने चारो ओर दृष्टि दौड़ाते हुए कहा—"रमेश, जेन कहाँ है?"

रमेश ने बड़ी गंभीर मुद्रा से कहा—"मैंने उसे विवाह के छ महीने के पश्चात् ही तलाक़ दे दी। वह मुझसे प्रेम नहीं करती थी, मेरे धन से प्रेम करती थी, और मैं अंधा बनकर उसकी बातों में फँस गया। मा, यदि तुम पहले ही सोच-समझकर कार्य करतीं, तो संभवतः यह सब न हो पाता।"

इतनी बातें रमेश एक श्वास में कह गया। मालूम होता था, हृदय भरा पड़ा है, परंतु शब्दों का काल पड़ गया है। उसके होंठ काँप रहे थे।

रमेश की मा बेटे की पीठ पर हाथ फेरती हुई बोलीं—"रमेश, इंसान कुछ खोकर सीखता है। तूने और मैंने सब कुछ सीख लिया। अब भी कुछ बिगड़ा नहीं है। तू सरोज से क्षमा माँग ले।"

सरोज घबरा गई। इसका क्या तात्पर्य है? वह जल्दी से बोल उठी—"चाची, मैं घर जाती हूँ।"

रमेश गंभीर भाव से बोला—"अम्मा, वह अब मुझे क्षमा नहीं कर सकतीं।"

सरोज यह सुनकर रो पड़ी।

उसे हृदय से लगाते हुए चाची बोली—"रमेश, ऐसा न

कह, स्त्री क्षमा की प्रतिमा होती है। सरोज साक्षात् पार्वती की मूर्ति है। भगवान् उसकी तपस्या सफल करें।"

एक बार फिर हीरालालजी के घर में धूम मच गई, परंतु इस बार लोगों के हृदय में जो आनंद था, वह पहले से कहीं भिन्न था। रमेश की मा ने डिप्टिआइनजी से हँसकर कह ही दिया—"देख लिया बहन, मेरी बहू कैसी चमक रही है?"

सरोज की मा आनंद-विभोर हो गईं।

इस बार रमेश की बारी थी। रमेश ने एक हीरा की अँगूठी उपहार-स्वरूप सरोज को दी, और हँसकर बोला—"तुम्हारा उपहार तुम्हें लौटाकर मैं तुम्हें उपहार में लूँगा। बस, यही मेरा प्रायश्चित्त है।"

रहस्योद्घाटन

अमर जरमनी से उच्च शिक्षा प्राप्त कर जब भारत पहुँचा, तो केवल एक भाव उसके हृदय में प्रधान रूप से अधिकार जमाए था। वह यह कि हिंदी-साहित्य-सेवा करने में वह जी-जान से कोर-कसर न रक्खेगा। उसने देखा था, जरमनी के एक-एक स्त्री-पुरुष और कॉलेज में पढ़नेवाले युवक-युवतियों में अपने साहित्य को उच्च करने की आकांक्षा थी, और बहुत-से उस आकांक्षा को पूर्ण करने के लिये स्वयं नाना प्रकार के लेख, उपन्यास इत्यादि लिखते। वहाँ के लेखकों और संपादकों को वास्तव में नगर-भर के लोग झंडे पर नचाते फिरते। साहित्य-सेवा का पुरस्कार-स्वरूप जो धन उन्हें प्राप्त होता है, वह उनकी आवश्यकताओं से अधिक होता। अमर के एक युवक मित्र ने, जो स्वयं विद्वान् लेखक था, अमर का परिचय वहाँ के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास-लेखक से कराया। उस उपन्यास-लेखक की किसी अच्छे राजा से कम प्रतिष्ठा नहीं थी। उसका घर और रहने के ठाट-बाट इत्यादि देखकर अमर को विश्वास हो गया कि वह घर का अमीर रहा होगा, परंतु मित्र से पूछने पर ज्ञात हुआ कि यह सब धन उसे साहित्य-सेवा के बदले में प्राप्त हुआ है।

अमर एफ़्० ए० तक हिंदी पढ़ चुका था। जरमनी के वातावरण ने उसके हृदय में अपने देश के साहित्य के लिये प्रेम का बीज बो दिया। उसे विश्वास था, यदि नौकरी इत्यादि छोड़कर वह जी-जान से हिंदी-साहित्य को बढ़ाने का प्रयत्न करता रहेगा, तो वह भी जरमन-उपन्यासकार की तरह धन्ना सेठ हो जायगा। अस्तु। अमर को भारत पहुँचे एक मास व्यतीत हो चुका था। अपने घर के सामने की सड़क पर घूम-घूमकर वह इसी विचार में मग्न था कि किस प्रकार लिखना आरंभ करे—पहले निबंध अथवा कहानी। परंतु अभी अंतिम निर्णय तक नहीं पहुँचा था, इतने में पास से दो व्यक्ति आपस में बातचीत करते हुए चले जा रहे थे। अमर का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ। एक कह रहा था—"परंतु दिनेशजी, यदि मैं आपके स्थान पर होता, तो उस पुस्तक के संपादन का भार अपने ऊपर कदापि न लेता।"

दिनेशजी बोले—"तुम जानते नहीं हो सतीश, साहित्य-सेवा का सबसे बड़ा आदर्श त्याग है। हमारे लिये हर समय धन के पीछे दौड़ना उचित नहीं है।"

यह कहते-कहते वे दोनो अमर से कुछ दूर आगे निकल गए। अमर को तो पहले ही से इस बात की चिंता थी कि किसी संपादक से परिचय हो जाय। उन दोनो के आपस के वार्तालाप से यह समझ जाने पर कि दिनेशजी नाम का व्यक्ति एक संपादक है, अमर उनकी ओर लपककर पहुँच

गया, और हाँफती हुई आवाज़ में बोला—"महाशय, क्षमा कीजिएगा, मैं आप लोगों से परिचित होना चाहता था, इस कारण आपकी बातचीत में विघ्न डाला।"

दिनेशजी ने, जो देखने में लगभग अड़तीस वर्ष से अधिक जान पड़ते थे, आवश्यकता से अधिक बड़े मुँह को चीरकर मुस्किराते हुए अमर से पूछा—"आपका शुभ नाम ?"

वह बोला—"अमरनाथ।"

फिर संपादकजी ने अपना परिचय कराते हुए कहा—"मेरा नाम कमलनारायण 'दिनेश' है, परंतु लोग मुझे मेरे कवि-नाम से पुकारते हैं। और, यह नवयुवक मेरे मित्र सतीशचंद्र हैं। आप लखनऊ-विश्वविद्यालय में एम्० ए० में पढ़ते हैं।"

दिनेशजी एक साँस में अपना पूर्ण परिचय दे गए। इसके उपरांत अमर ने उनसे अपने घर चलने के लिये आग्रह किया। दोनो व्यक्ति तुरंत सहमत हो गए।

घर जाकर अमर ने अपना उद्देश्य दिनेशजी से कह सुनाया, और उस विषय में उनके विचार पूछे। वह बोले—"आपके विचारों को जानकर मुझे अत्यंत प्रसन्नता हुई। आप अवश्य साहित्य-सेवा करें। इसमें आपको हर प्रकार का लाभ है।"

अमर बोला—"परंतु मेरी समझ में यह नहीं आता कि किस प्रकार श्रीगणेश किया जाय। पहले कहानी लिखूँ, अथवा निबंध ?"

"जैसे आपको अधिक सुगमता हो।"

थोड़ी देर इधर-उधर की बातचीत और हुई। इसके उपरांत दिनेशजी और सतीश चलने को प्रस्तुत हो गए। जाते समय दिनेशजी बोले—"अच्छा महाशय, अब तो आपसे परिचय हो गया है। मैं फिर कभी आऊँगा। यदि आपको किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता हो, तो मैं अपना कार्ड दिए जाता हूँ, आप मुझे बुलवा लीजिएगा।"

संपादकजी के चले जाने के उपरांत अमर बहुत देर तक उनकी वेश-भूषा, बातचीत करने का ढंग इत्यादि की समालोचना करता रहा; और अंत में इस निर्णय पर पहुँचा कि दिनेशजी हँसोड़े स्वभाव के मनुष्य हैं।

दो वर्ष बाद दिनेशजी और अमर में बड़ी मित्रता हो गई थी। दिनेशजी बहुधा अमर के पास आते। उसके प्रारंभ के निबंधों को पढ़कर प्रशंसा के पुल बाँध देते—"अमर, वास्तव में तुम बड़े अच्छे लेखक होगे।" बस, यही उनका प्रिय वाक्य था। अमर अपनी प्रशंसा पर फूल उठता। नित्य नए उत्साह से वह निबंध लिख-लिखकर दिनेशजी को दे देता, और जब वे लेख दिनेशजी के साप्ताहिक पत्र 'आधुनिक' में छपे हुए अमर के नेत्रों के सम्मुख आते, तो वह कुछ समय के लिये अपने को भूल-सा जाता। कल्पना उसे उत्साहित करती—लिखे जाओ। एक दिन तुम्हारी कला तुम्हें उसी जरमन-उपन्यासकार के समान धनी और नामी बना देगी।

यों ही बहुत दिन निकल गए। एक दिन दिनेशजी अमर के घर आए। उनके हाथ में कुछ प्रूफ़ शुद्ध करने के निमित्त थे। उन्हें देखते हुए अमर ने पूछा—"दिनेशजी, आप तो बड़े भारी कवि, लेखक और संपादक हैं, ख़ूब कमा लेते होंगे?"

दिनेशजी कुछ रूखी-सी हँसी हँसकर बोले—"और नहीं तो क्या, काफ़ी अच्छी आमदनी हो जाती है।"

दिनेशजी के खर्चने के ठाट से अवश्य पता चलता था कि वह अच्छे रुपए-पैसेवाले आसामी हैं, परंतु उनके कपड़े और जूते विपरीत दशा का दृश्य दिखाते प्रतीत होते।

अमर ने भी यह बात देखी, और मन में सोचा, दिशनेजी और गँवार हिंदोस्तानियों को रहने का ढंग नहीं मालूम है। इतने धनी और नामी होकर भी इस प्रकार मैले-कुचैले कपड़े पहने फिरते हैं। यदि अमर दिनेशजी के समान अमीर होता, तो उसे पूर्ण विश्वास था कि वह बड़े क़ायदे से उस धन को प्रयोग में लाता। बातचीत में अमर ने पूछा—"क्यों दिनेशजी, अब मुझे कब तक पुरस्कार मिलने लगेगा?"

दिनेशजी हँसकर बोले—"सच बात तो यह है अमर कि हिंदी-साहित्य में प्रारंभ में आप जितना अधिक त्याग करते हैं, आगे चलकर उतना ही उच्च पुरस्कार मिलता है।"

अमर बोला—"वास्तव में मेरा विचार यह है कि अपनी नौकरी छोड़ दूँ, और साहित्य-सेवा करके पेट भरूँ। आप

स्वयं ही देखिए, मेरे पिताजी ने यत्न से इतना धन व्यय करके, मुझे जरमनी भेजकर डिगरी दिलाई, और यहाँ आकर डेढ़ सौ रुपल्ली की नौकरी मिली। दिन-भर पिसना पड़ता है। मेरा दिल ही जानता है कि किस प्रकार मैं कार्य कर रहा हूँ।"

दिनेशजी बोले—"आप ऐसा न कर बैठिएगा कि कहीं नौकरी छोड़ दें। यह बात तो सच है कि 'साहित्य-सेवा' करके लोग धनी बन सकते हैं, परंतु यदि दोनों कार्य आप साथ करेंगे, तो कहीं अधिक धनी हो जायँगे।"

यह बात अमर की समझ में आ गई। कुछ सोचकर बोला—"दिनेशजी, अब मैं कहानियाँ लिखना आरंभ करूँगा, परंतु इससे पूर्व आपसे कहानी-कला के विषय में कुछ पूछना है। इस समय तो देर हो गई है, मैं स्वय आपके पास पहुँच जाऊँगा।"

उस दिन, दिनेशजी के चले जाने के उपरांत, अमर सोचने लगा—"मैं कभी दिनेशजी के घर जाकर उनसे नहीं मिला हूँ। बेचारे मन में सोचते होंगे, बड़ा घमंडी है। वास्तव में कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। या तो वह स्वयं यहाँ आ जाते हैं, या मैं प्रेस जाकर उनसे मिल आता हूँ।"

तीन-चार दिन बाद अमर ने निश्चय किया कि दिनेशजी के घर जाकर उनसे मिला जाय। रात के नौ बजे साइकिल उठाकर अमर चल दिया। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते बाज़ार की एक तंग गली में, तिमंज़िले मकान के एक कोने में, दिनेशजी का

साइनबोर्ड दिखाई पड़ा। मकान बहुत बड़ा था, और उसमें कम-से-कम पंद्रह साइनबोर्ड टँगे थे।

कुछ देर तक अमर आँखें फाड़-फाड़कर उस मकान की ओर देखता रहा। उसे जैसे विश्वास नहीं आता था कि मकान के इतने छोटे-से भाग में दिनेशजी रहते हैं। दूर से देखकर उसके हृदय में यही भाव आए थे कि पूरे मकान के मालिक दिनेशजी हैं। मकान की बाह्य दशा देखने से प्रतीत होता था कि वर्षों से उसमें सफेदी नहीं हुई है। दीमक के खाए हुए किवाड़, टूटे और गिरे हुए अंग उसके पुरानेपन की गवाही दे रहे थे। अमर ने पूर्ण निश्चय करने के लिये एक बार फिर पास के एक मनुष्य से पूछा—"क्या यही 'आधुनिक' के संपादक का घर है ?"

"जी हाँ।"

अमर दिनेशजी की बैठक के द्वार पर पहुँचा। द्वार बंद थे। भीतर से एक स्त्री की आवाज़ आ रही थी। अमर ने अनुमान किया, वह दिनेशजी की पत्नी बोल रही है। उसे इस प्रकार द्वार पर खड़े होकर किसी के घर की बातें सुनने का अधिकार न था, यह जानते हुए भी अमर चुपचाप कान लगाकर सुनने लगा।

वह कह रही थी—"तुम्हें क्या है। आज कहारी भी कह गई है—'बिन मजूरी मिले काम करने नहीं आएँगी।' मकान-मालिक गम खाए बैठा है। कह रहा था—'इतने पुराने किराएदार

हो, इसी से अभी तक मुक़दमा नहीं चलाया है। और देख लूँ कुछ दिन, मेरे पचास रुपए नहीं मिले, तो समझ लेना...।'"

दिनेशजी बोले—"तो मैं क्या करूँ, जो कुछ लाता हूँ, तुम्हारे हाथ में रख देता हूँ।"

"लाते क्या हो ख़ाक? तुम्हारे ख़रचे कभी कम ही नहीं होने आते। अब मुझे नौकरी करनी पड़ेगी।"

दिनेशजी झल्लाकर बोले—"जो तुम्हारा मन चाहे, करो, मैं मना नहीं करता। जिस समय घर में घुसता हूँ, बस, यही तुम्हारे स्वागत के शब्द होते हैं। आज कोई नई बात है, जो मैं उसकी चिंता करूँ।"

भीतर से बच्चे के रोने का शब्द हुआ। दिनेशजी की श्रीमती मुँह में कुछ बुड़बुड़ाती भीतर चली गईं।

इसके बाद अमर का साहस न हुआ कि दिनेशजी से जाकर मिले। चुपचाप साइकिल पर चढ़कर लौट आया।

दो दिन लगातार परिश्रम करने के उपरांत अमर ने एक कहानी लिखी। शीर्षक था 'रहस्योद्घाटन'। दिनेशजी के जीवन का बड़ा सुंदर चित्र खींचा था। इधर इस बीच में दिनेशजी भी कहीं आए थे। कहानी समाप्त होने पर, तीसरे दिन रात के समय, अमर दिनेशजी के घर पहुँच गया। उस समय दिनेशजी भोजन कर रहे थे। जल्दी-जल्दी थाली खिसकाकर उन्होंने अमर को बैठक में बुलाया। अमर दिनेशजी की ओर देखकर मुस्किराया, और उनके सामने अपनी

कहानी रखते हुए बोला—"ज़रा इसे शुद्ध कर दीजिए। 'हंस' के संपादक ने मुझसे कहानी माँगी है, इसी कारण मुझे इतनी शीघ्रता करनी पड़ी।"

दिनेशजी कहानी पढ़कर सुस्त हो गए। समझते देर न लगी। उनकी दरिद्रता का रहस्योद्घाटन था। हड़बड़ाकर बोले— "क्या वास्तव में आप यह कहानी भेज रहे हैं?" उनके मुँह का रंग पीला पड़ गया था।

अमर अधिक न देख सका। दिनेशजी के हाथ से कहानी लेकर, उसने वहीं चीर-फाड़कर फेक दी, और हँसकर बोला— "आप इतने भावुक हैं, मैं नहीं समझा था।"

उस घटना के बाद से अमर और दिनेशजी में बड़ी घनिष्ठता हो गई है। अब दिनेशजी सदैव यही कहते हैं— "सच्चा साहित्य-सेवी कभी धनी नहीं हो सकता।"

श्यामा

श्यामा में बहुत-से ऐसे गुण थे, जो साधारणतया एक ही स्त्री में मिलने कठिन होते हैं। वह दसवीं कक्षा पास थी, परंतु बहुत-सी आधुनिक शिक्षित स्त्रियों के समान अपनी विद्या का गुमान नहीं रखती थी।

जिस समय गुजरात की मिल में आठ घंटे कार्य करके मैं घर लौटता, तो द्वार पर श्यामा का खिला हुआ शांत मुख मेरे सारे श्रम को धो डालता। मैं पूछता—"कब से यहाँ खड़ी हो?" "अभी आई थी।" बस, उसका यही उत्तर रहता। उसकी शांति का ऐसा प्रभाव था कि मेरा हृदय भी सदैव शीतल बना रहता। आपस में बहसाबहसी, झड़प इत्यादि हो जाना, ये बातें हमारे लिये स्वप्न के समान थीं। मैं जो कुछ कह देता, वह उसके मन को भा जाता, और मैं भी उसकी बात को सदैव ठीक समझ लेता। मैं अपने मित्रों से कभी इस बात की चर्चा करता, तो वे अविश्वास की हँसी हँस देते। उनका उत्तर यही रहता—"अभी क्या है, विवाह हुए केवल एक ही वर्ष तो हुआ है, धीरे-धीरे पता चल जायगा, ऊँट किस करवट बैठता है।" मुझे उनकी बातों पर हँसी आती, परंतु चुप मार जाता।

श्यामा कलकत्ता - युनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर डॉक्टर ज्ञानचंदजी की पुत्री थी, और मैं गुजरात का निवासी। यह सोचकर मुझे आश्चर्य होता था। भाग्य कैसा प्रबल है। श्यामा मुझे प्राप्त होनी थी, और हो गई। मैं उसके माता-पिता और संबंधियों से अभी तक पूर्ण रूप से परिचित नहीं हुआ था। विवाह हुए भी साल-भर हो चुका था। इस कारण मेरे ससुरजी की चिट्ठियाँ आने लगीं। हरएक पत्र में वह लिखते—"तुम लोग दो-ढाई महीने की छुट्टी लेकर आओ! बहुत दिन हो गए हैं, तुमसे मिलना नहीं हुआ।"

मैं श्यामा से पूछता—"क्यों श्यामा, तुम्हारी घर जाने की इच्छा होती है?"

उत्तर में सिर नीचा करके वह कहती—"जैसा आप कहें।" मैं अपने मन में सोचता, कैसी मूर्खता की बात पूछ बैठा! क्या लड़की का मन अपने माता-पिता के पास जाने को न होगा।

मैंने किसी प्रकार लड़-झगड़कर अपने प्रोप्राइटर से एक महीने की छुट्टी ले ली। जिस दिन छुट्टी की मंजूरी मिली, मैं बहुत प्रसन्न घर लौटा। द्वार पर सदा की भाँति श्यामा स्वागत करने को खड़ी थी। मैंने हँसकर कहा—"श्यामा, मेरी छुट्टी मंज़ूर हो गई है।" मेरा विश्वास था, यह सुनकर श्यामा का खिला हुआ मुखड़ा और भी खिल जायगा,

परंतु हुआ इसके विपरीत। मुझसे रहा न गया, पूछ ही बैठा—"परंतु तुम उदास क्यों हो गई ?"

उसने हँसकर टालने का प्रयत्न करते हुए कहा—"कुछ नहीं, यों ही इतना सामान बाँधना है। केवल एक दिन का समय मिल रहा है।"

मुझे श्यामा का उत्तर कुछ जँचा नहीं। दिन-भर मेहनत करके उसके माथे पर कभी बल नहीं आता था, आज वही श्यामा काम के नाम-मात्र से ही सुस्त हो जाय ! होगा। मैंने सांत्वना देते हुए कहा—"तुम घबराती क्यों हो ? कल छुट्टी है। हम दोनो मिल-बाँटकर काम कर लेंगे।" वह मुस्किराकर बोली—"मेरे रहते आप कभी ऐसा न कर पाएँगे।" उसके इतने शब्द उसका रूखापन भुला देने के लिये पर्याप्त थे।

जब हम कलकत्ते पहुँचे, तो स्टेशन पर ससुरजी और मेरे दो साले हम लोगों का स्वागत करने को खड़े थे। मुझे तो उनकी सूरतें भूल-सी गई थीं, परंतु श्यामा देखते ही बोली—"वह हैं पिताजी और भैया।" हम लोग प्रसन्न-चित्त घर पहुँचे। परंतु मुझे ऐसा ज्ञात होने लगा कि श्यामा बहुत उदास हो गई है। मैं आश्चर्य में था।

हमें कलकत्ते आए कई दिन हो चुके थे। मेरी छुट्टी समाप्त हो रही थी। श्यामा के माता-पिता मुझसे श्यामा को छोड़ जाने के लिये अनुरोध करने लगे। मैंने सब बात श्यामा के ऊपर छोड़ दी, परंतु वह स्वयं रुकने को तैयार न हुई।

मैं घर पर अकेला था। मेरे खाने इत्यादि की देख-भाल कौन करेगा, फिर इतनी दूर पहुँचाने का झगड़ा। इस कारण हम लोगों ने साथ ही चलने का निश्चय किया। श्यामा माता-पिता से मिलकर खूब खुश-सी हो गई थी। हमारे चलने से एक दिन पूर्व ज्ञानचंदजी के घर बहुत-से लोगों की दावत हुई। सब लोग बड़े कुतूहल के साथ मुझे देखने आए। होती भी क्यों न, विवाह के उपरांत पहला अवसर था। मैं अपनी ससुराल आया था। कुछ लोगों के बीच में बैठा खा रहा था। अचानक पीछे से सुनाई पड़ा—"कितने आश्चर्य की बात है; श्यामा दूसरा विवाह करके इतनी प्रसन्न है।"

मेरे हृदय पर मानो किसी ने बड़े ज़ोर से आघात किया हो। मैंने मुड़कर देखा, एक अधेड़ आयु का आदमी अपने दूसरे साथी से यह बात कह रहा था। मेरे हृदय में खलबली पड़ गई। रह-रहकर सोचता, क्या उस आदमी ने सच कहा था? परंतु विश्वास और अविश्वास के हाथ की गेंद बना मैं कभी एक ओर लुढ़क जाता, तो कभी दूसरी ओर।

मैं गुजरात लौट आया, परंतु हँसी की मुद्रा अब गंभीरता में परिणत हो गई। मैं हर समय इस दुनिया के छल-प्रपंच सुलझाने का प्रयत्न करता, परंतु उन्हें और उलझा हुआ पाता। अधिकार-सुख की मादकता और सार-हीनता पर हृदय उपहास करने लगता। धीरे-धीरे बहुत-सी बातें

समझ में आने लगीं—अवश्य ही श्यामा के घरवालों ने मुझसे छल किया है। वह बड़े आदमी थे, चाहते, तो कलकत्ते में ही उन्हें श्यामा के लिये पचासों योग्य वर मिल जाते। वह पढ़ी-लिखी थी, सुंदरी थी। परंतु उन्होंने इतनी दूर विवाह क्यों किया ?

एक के बाद एक प्रश्न मेरे हृदय में उठते। मैं उन्हें हल न कर पाने के कारण चकरा जाता, अजब उन्मादी की-सी दशा थी। इधर श्यामा भी कुछ-से-कुछ हो गई। उसकी मुस्कान बादलों की बिजली के समान लोप हो गई। उसका मुख पीला पड़ गया था, मानो बहुत दिन की बीमारी के बाद उठी हो। मैंने श्यामा से बात करना एकदम बंद-सा कर दिया था। वह सिर झुकाए दिन-भर बैठी रहती, या कार्य करती। आँख उठाकर मेरी ओर देखने का उसका साहस न होता।

एक दिन मैं काम पर से लौटा। देखा, श्यामा द्वार पर नहीं थी। आश्चर्य और क्रोध दोनो ने मेरे ऊपर अधिकार कर लिया। किसी प्रकार भीतर गया, तो देखा, श्यामा बिलकुल शांत, निश्चल अपने पलँग पर पड़ी है। अपने को अधिक न सँभाल सकने के कारण मैंने लपककर श्यामा के मस्तक पर हाथ धर दिया। साथ ही मुँह से निकला—"कैसी तबियत है प्रिये ?" मालूम नहीं, कितने दिनों बाद मेरे मुख से यह संबोधन सुनकर श्यामा अपने को वश में न कर सकी।

आँचल में मुख छिपाकर रोने लगी। उसे काफ़ी तेज़ ज्वर चढ़ा था। मैंने उसका हाथ पकड़ लिया—"नहीं श्यामा, मैं तुम्हें रोने नहीं दूँगा।" परंतु स्वयं आवेग को रोक न सका। उसके वक्षःस्थल पर सिर रखकर मैंने खूब आँसू बहाए। मेरे शांत हो लेने पर श्यामा बोली—"आज मैं आपसे बहुत कुछ कहूँगी, आप न्यायकर्ता बनिए।" मैंने रोकते हुए कहा—"श्यामा, कुछ देर चुप लेटो, तुम्हें बहुत तेज़ ज्वर है।" परंतु उसने इस बात पर बिलकुल ध्यान न दिया, और बोली—"मैट्रिक पास कर लेने के उपरांत मैंने कॉलेज में नाम लिखाया था।

"उसी वर्ष कलकत्ता-विश्वविद्यालय से एक नवीनचंद्र जोशी नाम का युवक अँगरेज़ी में सब छात्रों से अधिक नंबर लेकर फ़र्स्ट हुआ। नवीनचंद्र जन्म से ही टाँगों से रहित थे। उनकी माता जब वह दो वर्ष के थे, तभी विधवा हो गई थीं। परंतु उन्होंने अपने को बेचकर नवीन को अच्छी-से-अच्छी शिक्षा दी। नवीन के साथ सदैव दो नौकर रहते, जो उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाते, उठाते-बिठाते। नवीन वैसे बहुत सुंदर थे, उनके चेहरे पर बड़ा तेज था, और जिस समय वह लंबे पायँचे का पतलून पहनकर कुर्सी पर बैठे रहते, तो यह समझना भी कठिन हो जाता कि उनके टाँगें नहीं हैं।

"नवीनचंद्र ने एम्० ए० कर लेने के उपरांत लड़कों की युनिवर्सिटी में लेक्चरारशिप के लिये अर्ज़ी भेजी, परंतु

युनिवर्सिटीवालों ने अपनी विवशता दिखाते हुए कहा—लड़के जब चार हाथ-पैरवाले शिक्षकों से नहीं सँभल सकते, तो नवीनचंद्र की कब सुनेंगे।"

इसके बाद श्यामा ने एक ठंडी आह भरी। मैं चुपचाप उसका मुख देख रहा था। वह बोली—"उसके बाद हमारे कॉलेज में नवीनचंद्र को पौने दो सौ की नौकरी मिल गई। वह हमारे अँगरेज़ी के शिक्षक नियुक्त हुए। जिस समय नवीनचंद्र हमारी कक्षा में आते, तो उनके घुसने से पहले सब लड़कियों को बाहर चला जाना पड़ता। वह बैठ लेने के उपरांत हम लोगों को बुलाकर पढ़ाते।

"लड़कियों को नवीनचंद्र से बहुत सहानुभूति थी। वे कहतीं—'वास्तव में नवीनचंद्र होनहार और सुंदर होते हुए भी केवल टाँगें न रहने के कारण बेकार ही हैं!'

"मुझे भी बड़ी सहानुभूति थी। हम सब उनके पढ़ाने के ढंग पर मुग्ध थीं। उनका कार्य ख़ूब मन लगाकर करते, क्योंकि वह भी योग्यतानुसार हमारी प्रशंसा करने में नहीं चूकते थे।

"एक दिन कक्षा में स्त्री-आदर्श पर लेख लिखने को मिला। दूसरे दिन, जब लेख शुद्ध होकर आया, तो सबसे पहले नवीनचंद्र ने मेरा नाम पुकारा। बोले—'कुमारी श्यामा का लेख कल के सब लेखों में अच्छा था।' उन्होंने मेरा लेख कक्षा में पढ़कर सुनाया। मैं पूरे समय सिर झुकाए बैठी

रही। मुझे इस अचानक प्रशंसा पर आश्चर्य होने लगा; क्योंकि मुझे बिलकुल आशा न थी कि मेरा लेख इतनी प्रशंसा के योग्य होगा।

"नवीनचंद्र के चले जाने के उपरांत मुझसे लड़कियों ने व्यंग्य करना शुरू किया। वे बोलीं—'ओह! आज तो प्रशंसा सुनते-सुनते कान पक गए। भगवान् जाने, आज लेख पर रीझे हैं, कल स्वयं तुम पर ही न रीझ जायँ।'

"मुझे उन लोगों की बातें बुरी लगीं। क्रोध से झल्लाकर बोल उठी—'अच्छा, जाओ, बला से; जिस पर रीझेंगे, वह समझ लेगा।'

"उसके बाद से लगभग बराबर मेरी प्रशंसा हो जाती। लड़कियाँ सदा मुझे छेड़तीं। धीरे-धीरे मेरे हृदय में भी यह भाव आया कि नवीनचंद्र की कृपा-दृष्टि मेरी ओर है। जो प्रशंसा वह करते हैं, वास्तव में, मैं उसके योग्य नहीं हूँ।

"तीन महीने इसी प्रकार व्यतीत हो गए। मेरा आकर्षण नवीनचंद्र की ओर बढ़ने लगा। मैं उनकी ओर आँख उठाकर देखती, और वह मेरे मनोगत भावों को पढ़ जाते। हम दोनो दृष्टि से ही एक दूसरे को समझने लगे। लड़कियाँ भी ख़ूब समझ रही थीं। वे मुझे अकेली छोड़कर, अलग-अलग गिरोह बनाकर, बैठ जातीं, और बातें करने लगतीं। यदि मैं साहस करके उनके पास चली जाती, तो बातचीत बंद कर

देतीं, परंतु मुझे इस बात की चिंता न थी। मैं मग्न थी, एक प्रवाह में बही जा रही थी।"

इतना कहकर श्यामा मूर्च्छित हो गई। मेरी जिज्ञासा को शांति नहीं मिली, परंतु मैं उपचार में लग गया। उसके बाद उसने कई बार बोलने का प्रयत्न किया, परंतु उसकी दशा देखकर मुझे भय लगता था। मैं इच्छा रहने पर भी उसका मुँह बंद कर देता—"अच्छी हो जाओगी, तब सुनाना।"

कई दिनों की बीमारी के बाद श्यामा अच्छी हो चली थी। रविवार का दिन था। मैं श्यामा के पास बैठा बातें कर रहा था। सोचा, अपनी जिज्ञासा-पूर्ति कर लूँ। परंतु मेरे बोलने के पूर्व ही वह बोल उठी—"आप उस कहानी को सुनने के लिये उत्सुक होंगे। अब मैं भी सुना सकती हूँ।" मैंने सम्मति-सूचक सिर हिला दिया। वह बोली—"अब मैं नवीनचंद्र से वास्तव में प्रेम करने लग गई थी। एक दिन नवीनचंद्र ने मेरी कापी लौटाते हुए कुछ संकेत किया। मैंने अपनी सीट पर जाकर चुपके से कापी खोली, उसमें एक पुरजा नवीनचंद्र के हाथ का लिखा था—'तुम मेरे और अपने दोनो के साथ अन्याय कर रही हो।'

"मैंने उस वाक्य को कई बार पढ़ा। सिर चकराने लगा। 'प्रेम करना अन्याय है' यह बात समझ में नहीं आई। मैंने सिर नीचा कर अपनी गीली पलकों को सबकी दृष्टि बचा-कर पोंछ लिया, परंतु नवीनचंद्र समझ गए। उन्होंने बहाना

करके मेरी कापी ले लो, और दूसरे दिन फिर उसमें एक चिट पर 'क्षमा' शब्द लिखकर भेज दिया।

"मैंने भी एक दिन उन्हें लिखा—'आप किसी पर इतना अत्याचार कर सकते हैं, यह मुझे मालूम न था।'

"इसके उत्तर में उन्होंने मुझे लिखा—'श्यामा, क्षमा करो। मैं तुम्हारा प्रेम पाने योग्य नहीं हूँ। मुझे भगवान् ने इस अधिकार से स्वयं ही च्युत करके भेजा है। कोई भलामानुस अंधा होकर अपनी होनहार लड़की एक टाँगों से रहित आदमी के हाथ में नहीं सौंप देगा।'

"मैं कई दिनों तक नवीनचंद्र के इन वाक्यों पर विचार करती रही, परंतु वह सब व्यर्थ-से जँचे। मैंने सोचा, जब मैं स्वयं ही उन्हें पति मान लूँगी, तो किसकी मजाल है, जो मुझे उनसे अलग कर ले। मैंने उन्हें लिखा—'हिंदू-स्त्री केवल एक बार वर ढूँढ़ती है, दस बार नहीं। मैंने आपको अपना सर्वस्व माना है, अब यह आपके ऊपर निर्भर है, मुझे अपनाएँ अथवा नहीं।'

"बात बहुत बढ़ गई थी। एक दिन अचानक नवीनचंद्र के हाथ की लिखी हुई मेरे नाम की एक चिट्ठी हमारी प्रिंसिपल ने पिताजी को भेज दी। अनायास यह खबर कान में पड़ते ही मेरे माता-पिता मारे क्रोध के अपनापन भूल गए। उसी दिन पिताजी ने मुझे खूब डाँटा।

"'पंजाबी की लड़की होकर ब्राह्मण से विवाह करने चली

है। नहीं जानती, यह सब होने से पहले ही दोनो का अंत कर दूँगा।'

"मैं रोने लगी।

"वह बोले—'बस, हो चुका। तेरी पढ़ाई का अंत है। कल से कॉलेज जाना बंद कर। अब देख, मैं नवीनचंद्र को कहीं का न रक्खूँगा।'

"इतनी बात कहकर पिताजी बाहर चले गए। भीतर अम्मा ने रही-सही पूजा कर डाली। मैं हतबुद्धि-सी थी। मालूम नहीं, कहाँ से वज्र गिर पड़ा।

"दूसरे दिन मैंने सुना, नवीनचंद्र नौकरी से निकाल दिए गए। नवीनचंद्र की विधवा माता पिताजी के पास आकर बहुत रोईं-गिड़गिड़ाईं, मगर वह ज़रा नहीं हिले।

"मेरे हृदय में प्रतिहिंसा की ज्वाला जलने लगी। मेरे कारण एक भोले नवयुवक का सर्वनाश हुआ। यह मेरी सहन-शक्ति के बाहर था। मैं पगाल-सी हो रही थी। बहुत तंग आकर मैंने तीसरे दिन एक चिट्ठी नवीनचंद्र को लिखी, वह इस प्रकार थी—

"'"प्रियतम,

तुम्हारे विना इस जीवन का कोई मूल्य नहीं है। मैं तुम्हारे सर्वनाश का कारण हुई। उसके प्रायश्चित्त-स्वरूप मैं अपना अंत करना ही ठीक समझती हूँ। जब

तुम्हें यह पत्र मिलेगा, मैं इस संसार से बिदा हो चुकी होऊँगी।

तुम्हारी अभागिनी

श्यामा'

"मैंने अपनी दाई को सोने की चूड़ी उतारकर दी, बहुत गिड़गिड़ाई, तब जाकर उसने मेरी चिट्ठी डाक में डाली। मुझे मालूम था, अम्मा अफ़ीम खाती हैं। चुपके से उनके बकस से बहुत-सी अफ़ीम निकालकर अपने कमरे में गई। शाम का समय था। मैंने अपना कमरा चारो ओर से बंद किया, और अफ़ीम खाकर लेट गई। दो मिनट बीतने पाए होंगे, मेरे द्वार पर रोने-चिल्लाने का शब्द होने लगा। मालूम नहीं, कैसे, कुछ देर में, द्वार तोड़ डाला गया। मैं तब तक कुछ बेहोश हो गई थी। उसके बाद जब मुझे होश आया, तो पता चला, मैं बचा ली गई। दुःख से व्याकुल होकर मैं रोने लगी—'हाय! मरने की भी स्वतंत्रता नहीं है।' अम्मा और पिताजी ने मुझे पुचकारा, समझाया और बोले—'श्यामा, तू हमारे लिये जी।'

"उसके बाद मैंने निश्चय कर लिया कि माता-पिता का अनुरोध अवश्य मानूँगी। मैं सब बातों को भूलने का प्रयत्न करने लगी। कुछ महीने बाद मुझे मालूम हुआ कि नवीनचंद्र ने मेरा पत्र पाते ही आत्महत्या कर ली। मेरी सहानुभूति उस विधवा के लिये फूट पड़ी, जिसका बना-बनाया

सोने का महल मैंने मिट्टी में मिला दिया। मैं आपसे विवाह करके कुछ छल करना नहीं चाहती थी, परंतु जिनके लिये जीवित रही हूँ, उनकी प्रसन्नता के लिये यह भी किया। अब आप मेरे न्यायकर्ता हैं।" कहकर श्यामा चुप हो गई।

मैं कुछ देर चुप रहा, फिर बोला—"श्यामा, इसमें तुम्हारा कोई अपराध नहीं है। वास्तव में तुम्हारे ऊपर बड़ा अत्याचार किया गया।"

वह बोली—"परंतु अब तो मैं तन, मन, धन से आपकी ही हूँ।"

मेरे मुख से निकला—"यह मेरा सौभाग्य है श्यामा।"

वह बोली—"मैं समझ गई थी आपको। मेरी इस 'प्रेम-कहानी' के विषय में मालूम हो गया है, परंतु मैं तो स्वयं ही कह देती। समय देख रही थी।"

मैंने दावतवाली बात श्यामा से कह सुनाई।

उस बात को बीते अब दो वर्ष हो चुके हैं। श्यामा अब एक पुत्र की माता है। मेरे अनुरोध से उसका नाम नवीनचंद्र रक्खा गया है। कभी-कभी श्यामा हँसकर कहती है—"मैंने पिताजी और अम्मा के लिये अपना जीवन उत्सर्ग किया था, उसी के फल-स्वरूप मुझे आज यह सुख प्राप्त हुआ है।"

जहाँनारा

गोधूलि का समय था। जहाँनारा अपने सुप्त, पागल पिता की शय्या के समीप बैठी थी। सामने यमुना की लोल लहरियाँ एक दूसरी से ऊँची उठने का प्रयत्न करती हुई फिर उसी बृहत् जल-राशि में विलीन हो जातीं। ताजमहल की सुंदर कटावदार दीवारों के छिद्रों से हर समय शीतल वायु के झोंके एक अनोखा गान गाते हुए आते और चले जाते। यही शहज़ादी जहाँनारा के सूने दिनों का मनोरंजन था।

शहज़ादी बहुधा गूढ़ विचारों में मग्न न-जाने क्या सोचती रहती। उस बीच में यदि प्रकृति उससे कोई छेड़-छाड़ करती, तो भी वह वज्र बनी बैठी रहती। इस समय भी वही दशा थी। जहाँनारा यमुना की लहरों का उत्थान और पतन देखकर मानव-जीवन के उत्थान और पतन की तुलना करने लगी— "आह! ख़ुदा ने क़ुदरत भी क्या ख़ूब बनाई है। हरएक पेड़, पौधा और फूल यहाँ तक कि पानी की एक लहर भी इंसान को अच्छे-से-अच्छा सबक़ सिखा देती है। बेशक पानी की लहरें ज़ोर करके एक दूसरी से ऊँची उठ जाती हैं। लेकिन जिस तेज़ी से उनका उठान होता है, उसी तेज़ी से वे नीचे भी गिरती हैं। औरंगज़ेब की अक़्ल पर ख़ुदा ने

कैसा परदा डाल दिया है, वह अंधा हो रहा है। उसकी समझ में नहीं आता कि एक दिन इन लहरों की तरह वह भी मिट जायगा। दुनिया का शायद एक ज़र्रा भी उसकी याद न दिला सकेगा। फिर इतने थोड़े-से सुख के लिये अपने बाप और भाइयों के ऊपर ज़ुल्म करके वह सिवा एक बुरे नाम के और क्या पा सका है……।"

शाहजहाँ ने करवट बदली। जहाँनारा चौंक पड़ी। रात अधिक हो गई थी, परंतु विचार-धारा में डूबी जहाँनारा को इसका तनिक भी पता न चला। उसने उठकर शमादान जलाया। बत्ती का प्रकाश एक क्षण में सारे महल में फैल गया। फिर जहाँनारा ने आकर पिता के मस्तक पर अपना कोमल हाथ धर दिया। वह जानती थी उसके ऐसा करने से बादशाह चौंक पड़ेंगे, परंतु विवश थी। अपने आवेग को रोक न सकी।

नेत्र बंद किए-ही-किए शाहजहाँ ने पुकारा—"बेगम, लो, मेरा हाथ पकड़ लो, मुझे आराम मिलता है……,पर तुम्हारी गोद में बच्चा कौन है? औरंगज़ेब? नहीं बेगम, तुम हट जाओ, मैं तुम्हें अपना हाथ नहीं दूँगा। वह मेरा बेटा औरंगज़ेब मेरे सब जवाहरात छीन लेगा।" इतना कहते-कहते शाहजहाँ उठ बैठे। जहाँनारा ने पिता का हाथ बल-पूर्वक पकड़ते हुए कहा—"अब्बा!" "तू आ गई बेटी, ले, यह मेरे जवाहरात छुपा ले।" कहते हुए शाहजहाँ ने अपने तकिए के नीचे से कुछ

मोतियों की टूटी हुई लड़ें जहाँनारा के फैले हुए आँचल में डाल दीं। जहाँनारा का हाथ काँप गया। ओढ़नी का छोर हाथ से छूट गया, और वे मोती इधर-उधर बिखर गए। बल-पूर्वक उसने पिता को पलँग पर लिटा दिया, और स्वयं फूट-फूटकर रोने लगी। इतने में द्वार पर शब्द हुआ। जहाँनारा ने अपने बिखरे हुए दुपट्टे को सँभालते हुए पूछा—"कौन ?"

उत्तर मिला—"मैं हूँ औरंगज़ेब। भीतर आ जाऊँ ?"

"शहंशाह औरंगज़ेब को इजाज़त लेने की ज़रूरत ही क्या है। मैं तो आपकी बंदी हूँ।" कहते हुए जहाँनारा ने द्वार खोल दिया।

भीतर आकर औरंगज़ेब बोला—"मैं अब्बा की तबियत के बारे में जानने की ख्वाहिश से यहाँ आया हूँ।"

"मैं जानती हूँ औरंगज़ेब, और तुम आ ही किसलिये सकते हो ? हमें रिहाई देने ?"

"कैसी बातें करती हो जहाँनारा, मैंने तुम्हें बंदी कब बनाया था, जो रिहाई दूँ। मैं तो आज ख़ास तौर से तुमसे यही कहने आया हूँ कि तुम अब्बा की ख़िदमत का काम छोड़ दो। उनकी तबियत बहुत बिगड़ गई है। मैं दरबार के हकीमों को रात-दिन के लिये तैनात कर दूँगा।"

"चुप रहो औरंगज़ेब, इस ज़िंदगी में तुम मुझे अब्बा से अलग नहीं कर सकते। जिसने अपने दो भाइयों को मरवा डाला, और जो बाप को जीते-जी उसकी ख़ुद की बनवाई

दीवारों में बंद करके बादशाह बन बैठा हो, उससे आगे भलाई की उम्मीद करना महज़ बेवक़ूफ़ी है।"

"ख़ैर। जहाँनारा, पिछली बातों को छोड़ो। अब्बाजान आज़ाद हैं। इतने बड़े महल में जहाँ चाहें, घूम सकते हैं। लेकिन अब उनके इलाज का ज़िम्मा मैं लूँगा।"

जहाँनारा के नेत्र क्रोध के कारण लाल हो गए। वह झल्लाकर बोली—"औरंगज़ेब, तुम जहानारा को दुधमुँही बच्ची समझकर पागल बनाने चले हो, जैसे वह तुम्हारे मतलब को समझ नहीं सकती। तुम भाइयों के खून से हाथ रँगकर भी ख़ुश नहीं। इस बार अब्बा पर नज़र जमाई है।"

औरंगज़ेब अधिक न सुन सका। क्रोध से बोला—"तू जानती है, इस वक़्त किससे बातें कर रही है?"

"हाँ, जानती हूँ, लुटेरे औरंगज़ेब से।"

"चुप रह, नहीं तो अंजाम बुरा होगा।"

"मुझे इसका डर नहीं है।"

"अच्छा, देखना, कल तुझे अब्बा से अलग न करवाया, तब कहना।"

औरंगज़ेब की तेज़ आवाज़ सोते हुए शाहजहाँ के हृदय से टकराई। वह तुरंत चौंककर उठ खड़े हुए। औरंगज़ेब से आँखें चार होते ही शाहजहाँ ने जहाँनारा की ओढ़नी पकड़ ली, और बालकों की नाईं मुख छिपाकर कहने लगे—"बेटी, मुझे बचा।"

औरंगज़ेब अब अधिक न रुक सका। एक तीव्र दृष्टि पहले शाहज़ादी और फिर बादशाह पर डाली, और चला गया।

कुछ दिन इसी प्रकार निकल गए। औरंगज़ेब के शब्द जहाँनारा को भयभीत करने के निमित्त केवल एक धमकी-मात्र थे। वह भली भाँति जानता था कि यदि उसने आगे एक भी कार्य ऐसा किया, तो प्रजा विप्लव कर देगी। परंतु हाँ, इस बीच में औरंगज़ेब ने बड़ी सख़्ती से कार्य किया। ताजमहल के चारो ओर बड़ा कड़ा पहरा रहता। यहाँ तक कि जहाँनारा को खाने-पीने की सामग्री मिलनी भी कठिन हो गई थी। वहाँ के एक ख़ास पहरेदार को केवल जहाँनारा से बातचीत करने की इजाज़त थी। वह एक उच्च घराने का बलिष्ठ युवक था। जहाँनारा को अपना मतलब गाँठने के लिये यह आवश्यक मालूम हुआ कि वह उस युवक को वश में करे, और शीघ्र ही उसे ऐसा करने में सफलता भी मिल गई। उसका नाम था अनवार। जब-तब वह आकर जहाँनारा की हर प्रकार से सहायता करता, और उसकी इच्छित वस्तुएँ बड़ी सावधानी और चतुराई से उस तक पहुँचाता। जहाँनारा कृतज्ञता के भाव से मस्तक नत कर लेती, परंतु इस समय वह दीन-दुनिया छोड़कर पिता की सेवा में लीन रहती। जहाँनारा की सेवा स्वीकार न हुई। शाहजहाँ की आत्मा ने रिहाई पाई। जी-जान से पिता की सेवा में तल्लीन जहाँनारा रातों सो न

सकने के कारण अति दुर्बल और क्षीण हो गई थी। पिता की मृत्यु का दुःख उससे सहन न हुआ। वह बहुत दिनों तक पागलों का-सा प्रलाप करती, हँसती, रोती और 'अब्बा-अब्बा' पुकारती रही। परंतु वह आवाज़ ताजमहल की दीवारों से टकराकर फिर उसके कानों में गूँजने लगती। अनवार को जहाँनारा से सच्चा प्रेम था। वह बड़ी श्रद्धा से उसकी सेवा करता। अकेली, असहाय जहाँनारा अनवार के प्रेम से फिर अपने जीवन का मूल्य समझने लगी। अब वह अच्छी हो गई थी।

बादशाह को गुज़रे लगभग आठ महीने होने आए थे। अभी तक जहाँनारा ताजमहल के उसी कोने में रहती, जहाँ उसने अपने जीवन का कुछ समय अब्बा के साथ गुज़ारा था। उसे उस स्थान से प्रेम हो गया था। वह घंटों वहीं, फुलवारी में, घूम-घूमकर फूल चुनती, और उन्हीं ताज़े फूलों को माता-पिता की क़ब्र पर चढ़ाती। उसे इसी में आनंद मिलता था। इस बीच में औरंगज़ेब ने दो-तीन बार जहाँनारा को अपने साथ रहने के लिये बुलाया भी, परंतु वह इनकार कर देती। ख़ैर, उसके इस प्रकार रहने से किसी का कुछ नहीं बिगड़ता था।

यों ही दिन व्यतीत होने लगे। अनवार प्रायः नित्य जहाँनारा के पास आता, और उसके दुःख को बँटाने का प्रयत्न करता। जहाँनारा भी अब सुखी हो चली थी। एक दिन

साहस करके अनवार बोल ही उठा—"शहज़ादी, इस तरह कब तक ज़िंदगी गुज़ारोगी ?"

जहाँनारा ने हँसकर उत्तर दिया—"जब तक तुम कहो अनवार।"

"तुम मेरा इतना कहना मानने लगी हो ?"

"और मानती कब नहीं थी। तुमने कभी कहकर भी देखा है ?" रूठने की मुद्रा बनाते हुए जहाँनारा ने कहा।

"लो शहज़ादी, तुम तो रूठने......"

बात समाप्त न हो पाई थी कि जहाँनारा बीच में ही बोल उठी—"मेर नाम शहज़ादी नहीं, जहाँनारा है।"

"अच्छा जहाँनारा, तुम्हें मेरे साथ आज ही चलना होगा।"

जहाँनारा ने प्रेम से अनवार का हाथ पकड़कर कहा—"चलो, पर पहले हम उन दोनों की इजाज़त तो ले लें।"

जहाँनारा और अनवार ने फुलवारी से एक-एक मुट्ठी फूल तोड़े। एक साथ ही बादशाह और बेगम की कब्रों पर वे फूल चढ़ाए गए। जहाँनारा ने अनवार के गले में अपनी भुजाएँ डाल दीं, और बोली—"तुमसे एक भीख माँगती हूँ ?"

अनवार चौंक पड़ा—"मुझसे भीख कैसी ? मैं खुद ही तुम्हारा हूँ।"

"तो फिर वादा करो, हम लोग चाहे जहाँ रहें, हर साल

इसी दिन आकर अब्बा और अम्मा की क़ब्रों पर फूल चढ़ा जाया करेंगे।"

अनवार ने सम्मति-सूचक सिर हिला दिया।

जहाँनारा ने रोते हुए अपने अब्बा और अम्मा की क़ब्रों को चूमा, और बाहर हो गई।

उस दिन से अनवार और जहाँनारा के विषय में कभी कोई कुछ भी न जान पाया। परंतु, लोग कहते हैं, अभी तक वर्ष में एक दिन बादशाह और बेगम की क़ब्रों पर लाल गुलाबों के दो गुलदस्ते रक्खे दिखाई देते हैं।

भूकंप आया

रात्रि का समय था, चारो ओर सन्नाटा छाया हुआ था। लोग दिन-भर के परिश्रम के उपरांत, चैन की नींद में, बेसुध पड़े थे, परंतु रनिया के नेत्रों में नींद कहाँ थी। मालूम होता था, सब दिनों का वैर एक साथ ही निकालने का निश्चय कर उसने रनिया को त्याग दिया है।

रनिया अपनी टूटी खटिया छोड़कर बाहर निकल आई। शरत्पूनो का बढ़ता हुआ चंद्रमा आकाश में खिल-खिला रहा था। पृथ्वी चंद्रिका से आँख-मिचौनी खेलकर फूली न समाती थी। रनिया को ईर्ष्या हुई कि संसार इतना सुखी है, परंतु केवल उसके लिये ईश्वर ने सुख का काल कर दिया था।

जो दुःख और निराशा के भाव रनिया के हृदय में एक वर्ष पूर्व, अपने सर्वस्व दद्दा की मृत्यु हो जाने पर, आए थे, वे ही भाव इस समय भी उसे पागल बना रहे थे। परंतु समय और परिस्थिति में कितना अंतर था। उन भावों को पृथ्वी के भूकंप ने जागृति दी थी, और इन भावों को हृदय के भूकंप ने।

वह बिहार की रहनेवाली ठाकुर-जाति की कन्या थी।

दुखिया ने जब होश सँभाला, अपने पिता को ही अपना एक-मात्र आधार पाया। फिर भी वह सुखी थी। उसके पिता ने उसे कभी माता का अभाव खटकने न दिया। बेचारा ठाकुर खेती और मेहनत-मजूरी करके धन पैदा करता, क्योंकि उसकी आशाएँ, अभिलाषाएँ और अरमान, सब उसकी रनिया पर केंद्रीभूत थे। उसने अपनी रनिया के पीछे वह त्याग किया था, जो बहुत कम देखने में आता है। जब रनिया की अम्मा कुछ महीनों की रनिया को पति के हाथ में सौंपकर इस असार संसार से बिदा होने लगी थी, उस समय ठाकुर ने दुःख से व्याकुल होकर पत्नी के आगे प्रतिज्ञा की—"घबराइयो नहीं, मैं दूसरा ब्याह नहीं करूँगा। तेरी रनिया मेरी रनिया रहेगी।" मालूम नहीं, ये शब्द अंतिम श्वासें लेती हुई ठकुराइन ने सुने या नहीं, परंतु मरने के उपरांत भी उसके अधरों पर संतोष की हँसी के चिह्न अंकित रह गए थे।

रनिया सुख से पलने लगी। गाँव में केवल छोटे लड़कों को हिंदी और गणित की शिक्षा देने के लिये एक छोटी-सी पाठशाला थी। सबकी देखा-देखी रनिया को भी धुन सवार हुई। एक दिन उसने अपनी कोमल बाँहें दद्दा के गले में डालते हुए अपने पढ़ने की इच्छा प्रकट की। ठाकुर ने हँसी में उसे बहलाने का प्रयत्न किया। ख़ैर, उस समय तो वह मान गई, परंतु दूसरे दिन उसने अपने पड़ोसी के लड़के मुरारी

को अपनी पुस्तकों का पाठ करते हुए सुन लिया। वह अपने साथियों को तोता-मैना की कहानी पढ़-पढ़कर सुना रहा था। रनिया कुछ देर खड़ी सुनती रही। इतने में कहीं से दद्दा पर दृष्टि पड़ गई। रनिया ने हठ पकड़ ली, यहाँ तक कि रोने की नौबत आ गई। ठाकुर में इतनी सहन-शक्ति न थी। रोती बिटिया को चुप कराके वह पाठशाला के पंडित के पास पहुँच गया, और अपनी इच्छा प्रकट की। पंडित को आश्चर्य अवश्य हुआ, परंतु आता धन किसे बुरा लगता है। वह राज़ी हो गया। उसके बाद से रनिया नित्य सबेरे अपनी तख्ती बग़ल में दबाकर पाठशाला पढ़ने जाती। उसके साथ की लड़कियाँ उसकी ओर ईर्ष्या से देखतीं। गाँववाले ठाकुर को बुरा-भला कहते, परंतु ठाकुर सब कुछ सुन लेता।

मुरारी गाँव के पुरोहित का पुत्र था। नटखटी करने में सबका सरपंच। जब स रनिया पाठशाला में पढ़ने लगी, मुरारी से बड़ी घनिष्ठता हो गई थी। वह नित्य पूछ बैठता—"के रनिया, आज कौन-सा पाठ पढ़ा ?"

रनिया शीघ्रता से अपनी पुस्तक बढ़ाते हुए कहती—"देख न, तेरे बराबर पढ़ गई हूँ।"

समय कूदता-फाँदता निकल गया। रनिया अब सयानी लड़कियों में थी। पड़ोसी ठाकुर को बुरा-भला कहते—"इतनी बड़ी लड़की को बिठाए है, ब्याह नहीं करता।" ठाकुर सुनता, परंतु सब बातें दूसरे कान से निकाल देता। रनिया के

विवाह की कल्पना करते ही उसके रोंगटे खड़े हो जाते। रनिया को अलग कर वह किसके लिये जीवित रहेगा। अभी तो उसका बुढ़ापा भी नहीं था, जो राम-भजन करके रही-सही काट देता।

टाल-मटोल करते भी कुछ समय निकल गया। अब रनिया पंद्रह वर्ष की हो चली थी। उसका निखरता हुआ रूप और उज्ज्वल रंग सबके लिये आकर्षण का साधन हो रहा था। ठाकुर को अब हर समय उसकी चिंता करनी पड़ती—ध्यान रखना पड़ता। जब वह तड़के से संध्या तक खेत पर रहता, तो उसे रह-रहकर रनिया का ध्यान आता। वह क्या कर रही होगी, कहाँ होगी। गाँव की पली लड़की थी, गाँववालों से उसे कोई परदा नहीं था। वह किसी को चाचा कहती, किसी को काका और किसी को भैया। परंतु संसार का विश्वास ही क्या था। ठाकुर उसे रोक-टोक में रख भी नहीं सकता था, क्योंकि घर पर उसके कौन था, जो उसकी देख-रेख करता। मुरारी अब अट्ठारह वर्ष का युवक था। जब वह रामायण लेकर पढ़ने बैठता, तो रनिया के लिये अच्छा आकर्षण हो जाता; वह भी जाकर सुन आती। वह उसे भैया कहती। गाँववाले मुरारी के साथ रनिया की विशेष घनिष्ठता देखकर दस बातें बनाते। धीरे-धीरे यह बात ठाकुर के कानों तक पहुँच गई। उसने एक दिन रनिया को बुलाकर कहा—"रनिया, तू अब सयानी

हो गई। दो-तीन माह में अच्छा घर-वर देखकर विवाह भी कर दूँगा। तू अब इस तरह मुरारी से बातें न किया कर।" रनिया ने बात सुनी, और आश्चर्य-चकित होकर पूछने लगी—"काहे दद्दा, क्या कोई अपने भैया से बात नहीं करता।" रनिया का सरलता-पूर्ण प्रश्न सुनकर ठाकुर ने केवल 'हूँ'-मात्र से अपने मनोगत भावों को प्रकट कर दिया। वह समझ गया, रनिया संसार की कृत्रिमताओं से बिलकुल अनभिज्ञ है।

जाड़े के दिन थे। ठाकुर अपने विचारों में आधा खोया-सा रनिया के विवाह की तैयारियाँ कर रहा था। आनेवाले फागुन की लग्न थी। ठाकुर घर-जमाई करने का निश्चय कर चुका था, इस कारण उसे अधिक चिंता न थी। परंतु रनिया विवाह के नाम-मात्र से ही घबरा रही थी। सगाई होने के बाद एक दिन जब रनिया मुरारी के पास बैठी रामायण सुन रही थी, मुरारी ने धीरे से प्रश्न किया—"के रनिया, तू ब्याह करके हम सबको बिसराय देगी?"

रनिया ने यह प्रश्न सुनते ही लज्जा से सिर नीचा कर लिया। वह अपनी रुलाई अधिक न रोक सकी, इस कारण तुरंत उठकर अपने घर भाग गई।

दिन का समय था। रनिया अपनी खोई हुई गैया को ढूँढ़ती-ढूँढ़ती खेतों की ओर चली जा रही थी, इतने में सामने मुरारी दिखाई पड़ा। वह भी कहीं से पुरोहिताई करके

लौट रहा था। अचानक बड़े ज़ोर का शब्द हुआ, और सारी पृथ्वी काँपने लगी। रनिया ने लपककर मुरारी का हाथ पकड़ लिया—"बचाओ भैया।" बस, यही शब्द उसके मुख से निकले। काँपती धरती के समान रनिया की देह काँप रही थी। मुरारी बोला—"रनिया, राम का नाम ले।" कुछ क्षण में मुरारी और रनिया ने देखा, एक गड़गड़ाहट के साथ उनका सब गाँव पृथ्वी से लग गया। रनिया "दद्दा, दद्द" चिल्लाती हुई, सुध-बुध छोड़कर, भागने लगी। मुरारी "हा राम" कहकर आगे बढ़ा, परंतु पहुँचने पर वहाँ जो दृश्य दिखाई दिया, उससे हृदय फटा जाता था। अभागिनी रनिया जाने किस घड़ी घर से बाहर हुई थी, जो पिता के अंतिम दर्शन भी न हुए। मुरारी के घर के आठ आदमियों में केवल दो छोटी बहनें बची थीं। रनिया रोती-बिलखती मुरारी के सम्मुख आई। मुरारी ने आश्वासन देते हुए कहा—"रनिया, राम पर भरोसा रख, तू तो समझदार है। देख मेरी छोटी बहनों को, उनका अब कौन है।"

"मैं अब कहाँ जाऊँ मुरारी, मेरे तो अब कोई नहीं रहा।" कहकर रनिया सिसकने लगी। मुरारी ने सहानुभूति और प्रेम दिखाते हुए कहा—"तू अपने भैया के पास रहेगी।"

भूकंप के बाद कई महीने व्यतीत हो चुके थे। वह गाँव अब बचे-खुचे लोगों से फिर आबाद हो गया था। रनिया की अपनी बची-खुची संपत्ति सब उसे प्राप्त हो गई। परंतु

सबसे बड़ी संपत्ति छिन जाने का दुःख अब भी नया बना था। मुरारी के घर से लगी हुई उसकी झोपड़ी थी, परंतु वह अधिकतर मुरारी के घर में रहती। मुरारी की तीन वर्ष और पाँच वर्ष की आयु की दोनो बहनें अब रनिया के पास थीं। वे उसे जिज्जी कहकर पुकारतीं। इस नई दुनिया में, सुख होने पर भी, रनिया दुखी थी। उसके मुख से उदासी का आवरण अब भी न खिसका था।

एक दिन मुरारी काम पर से देर में लौटा। उसने भिड़े किवाड़ों से झाँका। देखा, उसकी दोनो बहनें पड़ी सो रहीं थीं, और रनिया आँचल में मुँह छिपाए सिसक रही थी। भीतर आकर उसने रनिया को चौकन्ना कर दिया। मुरारी ने एक ठंडी आह भरते हुए कहा—"तू सुखी नहीं है रनिया।"

"नहीं भैया, कभी-कभी दद्दा की याद आ जाती है, इसी से रोने लगती हूँ।"

"इसी से तो कहता हूँ, तू सुखी नहीं है।"

हाथ-मुँह धोने के लिये जल का बर्तन सामने रखते हुए रनिया बोली—"भगवान् ने जो दिया है, मुझे उसी में सुख है।"

"एक को खोकर तीन मिले, अब और क्या चाहिए।" मुरारी बोला।

"कुछ नहीं।" कहकर रनिया काम में लग गई।

समय बीतने लगा। गाँववाले धीरे-धीरे अपना दुःख भूल चुके, तब उन्हें इधर-उधर की बातों की चिंता हुई। उन्हें रनिया के आचरण पर संदेह होने लगा—वह ठाकुर, मुरारी ब्राह्मण, उसका-मुरारी का मेल ही क्या? परंतु एक बात इस प्रश्न को ठंडा कर देती। वह किसके भरोसे रहे, उसके कोई है भी तो नहीं।

धीरे-धीरे रनिया ने देखा, मुरारी में परिवर्तन होने लगा। पहले तो वह केवल काम से मतलब रखता था। घर आकर खाने-पीने से छुट्टी होने पर रामायण अथवा महाभारत का पाठ करने बैठ जाता। अब वह बहुधा जल्दी घर लौट आता। तबियत न लगने का बहाना कर रामायण नहीं खोलता। किसी प्रकार रनिया से बातें करने का बहाना ढूँढ़कर बोलने लगता। रनिया ने संसार का छल-फरेब-भरा विकृत रूप नहीं देखा था; पर संसार को देखकर वह बहुत कुछ समझने लगी थी। उसे इन दिनों रह-रहकर अपने दद्दा के शब्द याद आ जाते—"रनिया, तू अब इस तरह मुरारी से बातें न किया कर।"

रनिया यह सब देख रही थी, और दूर-दूर रहती। वह अब बहुधा मुरारी की बहनों को अपने घर में रखती।

एक दिन बहुत रात तक मुरारी नहीं आया। रनिया को चिंता हुई। वह अपनी झोपड़ी के द्वार पर खड़ी होकर मार्ग की ओर निहारने लगी। कुछ देर में उसने देखा, मुरारी

चला आ रहा है। पूछ ही बैठी—"आज इतनी देर क्यों कर दी ?"

मुरारी ने प्रवेश करते हुए कहा—"यों ही। तेरे लिये तोड़े बनने को दे आया था, थोड़ी कसर रह गई थी, इससे सुनार के घर बैठ गया।" इतना कहकर मुरारी ने चमकते हुए तोड़े रनिया के सम्मुख रख दिए। रनिया चौंककर पीछे खिसक गई, और बोली—"काहे भैया, मुझे तोड़े क्या करने हैं।"

"मेरी भेंट है। पहनना, तेरी गोरी कलाई पर बहुत सजेंगे।" मुरारी ने उन्मत्त भाव से रनिया की ओर देखा, और बाहर जाने लगा। रनिया ने क्रोध से पागल होकर वे तोड़े मुरारी के आगे फेक दिए, और चिल्लाकर बोली—"तू मुझे इतनी नीच समझता है। मैं भी तुझे दिखा दूँगी, मैं ठाकुर की लड़की हूँ।"

मुरारी मानो सोते से जगा हो। इससे पूर्व उसने रनिया का ऐसा उद्दंड स्वरूप कभी न देखा था। रनिया सिसकियाँ भर-भर रो रही थी। मुरारी ने घुटने पृथ्वी पर टेक दिए। मस्तक नत हो गया। हाथ जुड़ गए। मुख से निकला "क्षमा।" उसने तोड़े नहीं उठाए, केवल सिर झुकाए-झुकाए एक बार रनिया की ओर देखा। उसके नेत्रों में अब भी आँसू भरे थे, शायद वे क्षमा के थे।

मुरारी तुरंत झोपड़ी के बाहर हो गया। शरत्पूनो का बढ़ता चंद्रमा उसे इस समय काल-सा लगा।

रनिया ने सोने का प्रयत्न किया, परंतु हृदय में संग्राम मचा था। दिया के टिमटिमाते प्रकाश में, पृथ्वी पर पड़े, वे तोड़े अब भी उसी प्रकार चमक रहे थे।

रनिया बहुत देर चाँदनी में बैठी अपने को शीतल करने का प्रयत्न करती रही, परंतु उसे सब व्यर्थ लगा। दद्दा उससे कह रहा है—"रनिया, तू यहाँ क्यों आई ? यहाँ तेरा घर नहीं।"

रनिया रोने लगी—"तो फिर कहाँ जायँ ?" यह उसे कौन बताने लगा था। रनिया ने देखा, बहुत रात जा चुकी है। उसने भीतर जाकर उन तोड़ों की ओर कुछ देर देखा, वे बड़े सुंदर बने थे। उसने उठाकर उन्हें हाथों में पहन लिया। उसकी गोरी कलाई पर वास्तव में वे तोड़े बहुत सुंदर लग रहे थे। वह हसी, फिर रोई। उन तोड़ों को चूमा। हृदय से लगाया। और "आया-आया।" चिल्लाती हुई उस हल्की चाँदनी में जाने किस ओर चली गई।

दूसरे दिन मुरारी ने देखा, रनिया घर में नहीं है। दुःख और पश्चात्ताप से व्याकुल हो वह उसकी झोपड़ी में गया। तोड़े वहाँ नहीं थे। रहस्य कुछ समझ में न आया।

कुछ दिन बाद लोगों ने सुना, मुरारी अपनी बहनों को लेकर परदेस चला गया।

अब उस घटना को घटे बहुत दिन हो चुके हैं। गाँव में कभी-कभी एक पगली चिल्लाती हुई आती है—"भूकंप आया,

भूकंप आया।" वह एक लहर की तरह आती और निकल जाती है। लोग उसके पीछे दौड़ते हैं, उसे पकड़ने का प्रयत्न करते हैं, परंतु व्यर्थ। हाँ, यदि मुरारी होता, तो उस पगली के हाथ के चमकते हुए तोड़े देखकर समझ जाता कि वह रनिया का भूत है।

श्रद्धांजलि

"दीदी, तू मेरी अम्मा है न ?" कहते हुए बालक बिन्नू ने मेरा हाथ पकड़ लिया। उसके इस प्रश्न ने कुछ समय के लिये मुझे असमंजस में डाल दिया।

बिन्नू को धैर्य कहाँ था, फिर पूछ उठा—"बोल दीदी।"

मैं चट बोल पड़ी—"हाँ बिन्नू, मैं तेरी अम्मा हूँ।"

"पर रामू और महेश तो कहते थे, मेरी अम्मा दूसरी है ?"

"वे तुझे छेड़ते होंगे।" मैंने कहा। परंतु फिर भी बिन्नू को कुछ विश्वास न हुआ। अपनी दृष्टि मुझ पर गड़ाते हुए उसने फिर प्रश्न किया—"तो दीदी, हम तुम्हें अम्मा क्यों नहीं कहते ?"

मैंने उसके घुँघराले बालों को छेड़ते हुए कहा—"तुझे 'दीदी' कहना अच्छा लगता है, इसीलिये।"

"नहीं-नहीं, हमें 'दीदी' बिलकुल अच्छा नहीं लगता। हम तुम्हें अम्मा कहेंगे।" कहते हुए बिन्नू ने अपनी सुकुमार फूल-सी भुजाओं में मुझे बंदी बना लिया। बालक की भोली बातों पर रीझकर मैंने उसका मुख चूम लिया।

हृदय में एक कसक हुई। अतीत के वर्तमान का आव-

रण खिसकाकर झाँका। दो वर्ष पूर्व की बातें एक-एक करके नेत्रों के आगे नृत्य करने लगीं।

वह भिखारिनी थी। अपने सुहाग की अवशेष स्मृति डेढ़ वर्ष के एक सुंदर बालक को आँचल में छिपाए उसने प्रथम बार मेरे द्वार के भीतर झाँका। प्रथम भिक्षा दो मुट्ठी आटा लेकर वह चुपचाप चली गई। जाती बेर मैंने देखा, उसके नेत्र गीले थे। कुछ ही क्षणों में वह नेत्रों से ओझल हो गई; परंतु मेरे हृदय में एक विचित्र प्रकार की खलबली-सी पड़ गई। उसके छलछलाए हुए नेत्र, जिन पर से अब भी यौवन का ख़ुमार नहीं उतरा था, इस बात की गवाही दे रहे थे कि उसने भी कभी अच्छे दिन देखे हैं। उँह, भिखारिनी है। होगी कोई, मुझे क्या करना है। इस प्रकार अपने को आश्वासन देकर मैं भीतर लौट आई।

एक सप्ताह बाद फिर वही भिखारिनी, उसी रूप में, द्वार पर खड़ी थी। इस बार मैंने एक अठन्नी उसके फैले हुए हाथों पर रख दी। उत्तर में उसने एक आह भरी, मानो बड़ा बोझ ढोना हो, और चल पड़ी। उसका आचरण मुझे बड़ा विचित्र लगा; परंतु कुछ कह न सकी।

धीरे-धीरे भिखारिनी का आना-जाना बढ़ने लगा। मुझे अब उसमें कोई विशेषता नहीं मालूम होती थी। वह बोलती नहीं थी। मैंने कभी उसे बुलवाने का प्रयत्न भी न किया।

कुछ महीने बाद अचानक भिखारिनी ने आना बिलकुल

हो बंद कर दिया। मुझे चिंता हुई; पर विवश थी। किसी को उसका पता-ठिकाना तक न मालूम था, इस कारण चुप हो जाना पड़ा।

मुझे दान इत्यादि देने में बड़े आनंद और सुख का अनुभव होता। प्रत्येक मास पचीस-तीस ग़रीब भिखारियों को फल-मिठाई इत्यादि दान करती थी। एक दिन इसी प्रकार घर के सामने भिखारियों की भीड़ इकट्ठी थी। मैंने दान करने के लिये आम मँगाए थे। नौकर बाँट रहे थे, और मैं खड़ी उस दृश्य का आनंद लूट रही थी। बेचारे निर्धन उन आमों को देखकर प्रसन्न हो रहे थे। अचानक सड़क पर कुछ शोर सुनाई पड़ा। मेरी आँखें वहाँ तक दौड़ गईं। देखा, वही भिखारिनी सड़क पर से पत्थर उठा-उठाकर तीन बदमाश लड़कों पर फेक रही है, और इधर-उधर के मनुष्य उसे मना कर रहे हैं। मैं फाटक तक पहुँच गई, और भिखारिनी को पुकारा। मेरी आवाज़ सुनते ही उसने सड़क पर खड़े हुए अपने बालक का हाथ पकड़ा, और आकर मेरे चरणों पर सिर रखकर रोने लगी। उसके मुख से ये ही शब्द निकले—"मा, अब नहीं सहा जाता।" मैंने उसे आश्वासन देते हुए हाथ पकड़कर उठाया, और घर लिवा लाई। भिखारियों के साथ उसे बिठाना उचित न समझकर मैं उसे भीतर ले गई। वह बेचारी किसी प्रकार भीतर पहुँचकर लेट गई। अब मैंने ग़ौर से उसे देखा। ज्ञात हुआ,

वह बहुत दिनों की बीमारी भुगतकर अच्छी हुई है। मैंने पूछा—"इतने दिन कहाँ रही ?"

वह एक आह भरकर बोली—"भगवान् से लड़कर लौटी हूँ।"

मैं चुप रही।

वह बोली—"मा, आज मैं तुमसे बड़ी भारी भीख माँगने आई हूँ। मुझे रुपए-पैसे नहीं चाहिए। अब केवल तुम्हारी कृपा पाने की इच्छा है। मालूम नहीं, कब आँखें बंद हो जाएँ। तुम बिन्नू को सँभालना, तुम्हारे कोई संतान नहीं है, इसे अपना समझना।"

इतना कहकर वह फूट-फूटकर रोने लगी। बिन्नू पास ही बैठा अपनी माता का मुख निहार रहा था। वह दृश्य मुझसे देखा न गया। मैं स्वयं रो पड़ी। मेरा बड़प्पन न-जाने कहाँ लोप हो गया। मैंने उसका हाथ पकड़ लिया। बोली—"भिखारिनी, तू दुखी न हो। तेरा बिन्नू सुरक्षित है।"

मेरे शब्दों से उसे कुछ ढाढ़स हुआ। उसने क्षण-भर अपने नेत्र बंद किए, और फिर तुरंत उठ बैठी, और बोली—"अब जाती हूँ मा।"

"क्यों ? कहाँ जायगी ?" मैंने पूछा।

"अब तक जहाँ राम ने रक्खा है।"

"नहीं भिखारिनी, तुम्हें अब कहीं न जाना होगा। यहीं एक कोठरी दे दूँगी, आराम से रहना।"

"मा, यह जन्म इस लायक़ नहीं है। तुम्हारी इस भलाई का बदला तुम्हें राम देगा।"

कहकर वह चलने को तैयार हुई। मैंने पाँच रुपए का नोट उसके हाथ में रखकर दूध इत्यादि लेके पीने को कहा। वह चार दिन बाद आने का वचन देकर चली गई।

जाते समय मैंने उसके सुंदर, भोले पुत्र बिन्नू की ओर दृष्टि डाली। अंतरात्मा कहने लगी—"यह तेरा है।"

चार दिन बाद भिखारिनी फिर आई। शाम का समय था। सड़क पर एक खिलौनेवाला मोम के खिलौने बेच रहा था। बिन्नू मचल गया—"अम्मा, खिलौने लेंगे।" मैंने तुरंत चार पैसे निकालकर उसे दे दिए। बालक ने कृतज्ञता-भरी दृष्टि से मेरी ओर निहारा, और खिलौने के पास दौड़ गया।

भिखारिनी बोली—"मा, तुम कौन जाति हो?"

मैंने कहा—"ब्राह्मण।"

वह बोली—"मैं भी ब्राह्मण-जाति की थी; पर अब कुछ भी नहीं हूँ।"

मैंने पूछा—"क्यों?"

"भिखारियों का भी कोई धर्म होता है?"

मैंने कहा—"मालूम होता है, तुमने कभी अच्छे दिन देखे हैं।"

"देखे तो थे, परंतु वह जन्म बीत गया। उन दिनों की केवल एक स्मृति-मात्र शेष है।"

मैंने पूछा—"क्या मैं तुम्हारी कहानी सुन सकती हूँ ?"

वह बोली—"हाँ, यदि तुम सुनना चाहती हो, तो अवश्य सुनाऊँगी। मेरा भी जी हल्का होगा। सुनो—

"मैं अपने माता-पिता के विषय में कुछ भी नहीं जानती। जब होश सँभाला, तो अपने बूढ़े ताऊ को अपना सब कुछ पाया। उन्होंने आजन्म ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया था। पंडिताई करके जीवन व्यतीत करते थे। जब मैं बारह वर्ष की थी, तभी मेरी माँग में सिंदूर पड़ गया था, और तेरह वर्ष की आयु में गौना हुआ, और ससुराल गई। बूढ़े ताऊ के लाड़-दुलार में पलकर मैं ऐसे सास-ससुर के पल्ले पड़ी कि मेरी सारी आशाओं पर पानी पड़ गया। मेरे पति मुझसे जैसा प्रेम करते थे, वैसा संसार में बहुत कम सौभाग्यशालिनी स्त्रियों को प्राप्त होता है। वह मुझसे आयु में आठ वर्ष बड़े थे, और विवाह के समय ही ख़ूब समझदार थे। उन्हें हिंदी-मिडिल तक शिक्षा मिली थी; परंतु नौकरी का कोई ठिकाना नहीं था। इस दशा पर भी जब सास मुझे कष्ट देती, तो वह व्याकुल होकर कहते—'चलो, हम दोनो घर छोड़कर भाग चलें।' मैं पूछती—'खायँगे कहाँ से ?' वह उत्तर देते—'भगवान् देगा।' इसी प्रकार जब ससुराल के कष्ट सहते-सहते कुछ वर्ष बीत गए, तो एक दिन हम दोनो प्राणी भगवान् के भरोसे केवल पचीस रुपए लेकर घर से निकल पड़े। परदेस पहुँचकर कुछ दिन इधर-उधर घूमने के बाद मेरे पति को

अनुभव हुआ कि यह उनकी भारी ग़लती थी। कोई उन्हें जानता-पहचानता नहीं था। इस घटती के समय में, जब कि बड़े-बड़े पढ़े-लिखे धूल फाँकते फिरते हैं, उन्हें कौन पूछता। हम दोनो ने वहाँ के मज़दूरों से बेत छीलकर डलिया बनाना सीखा। उसी से जो कुछ धन मिलता था, उसके द्वारा बड़ी कठिनाई से हमारा पेट भरता। रात-दिन की मेहनत ने मुझे और भी कृश बना दिया। मेरे पति को शांति नहीं थी। जिसके लिये वह सुख ढूँढ़ने निकले थे, वह इस प्रकार कष्ट उठाए! मैं स्वयं तंग आकर कहती—'तुम सेंत में मुझे घसीट लाए, वहाँ थोड़ा दुःख था, पर आराम से रोटी तो मिलती थी। यहाँ वह भी नहीं। पेट के कारण धीरे-धीरे मेरे ज़ेवर भी बिक गए।' परंतु बिन्नू के बाप मुझे सदा समझाते—'धीरज नहीं छोड़ना चाहिए, भगवान् भला करेगा।'

"ख़ैर, इस प्रकार दो वर्ष निकल गए। हम दोनो जीवन से निराश-से हो गए थे। मेरी उन दिनों तबियत बहुत ख़राब रहती थी। मेरे पति पागल की तरह सबेरे से रात तक काम की खोज में फिरते थे। एक दिन अचानक उन्होंने कहा—'उन्हें एक बाबू के दफ़्तर में रात को काम करने की नौकरी मिल गई है। बीस रुपए वेतन मिलेगा।' मेरी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। वह रोज़ रात को काम पर जाते, और मैं मन के लड्डू बनाती, अपनी फटी चटाई पर लेटी करवटें बदला करती। जिस दिन उन्होंने पहला वेतन लाकर दिया,

मैंने पाँच रुपए का प्रसाद हनुमानजी को चढ़ाया। उनके बीस रुपए में बड़ी बरकत थी। मैं जो माँगती, तुरंत बाजार से लाते। मैं रुपए का हिसाब लगाने बैठती, तो वह कहते—'पागल हो गई है क्या? बाबू मुझे इनाम-इकराम बहुत देते रहते हैं।'

"बाहर तो यह दशा थी, परंतु मेरे पति का रूप बहुत बदल गया था। वह बहुत उदास रहते। मैं कारण पूछती, तो अधिक काम का बहाना करते। मैं चट उनके सिर में तेल डालने बैठ जाती।

"एक दिन इसी प्रकार वह रात को काम करने गए, और समय पर नहीं लौटे। मैं चिंता में पड़ गई; परंतु किसी से कुछ सहायता नहीं मिल सकती थी। मुझे आप ही नहीं मालूम था कि वह किन बाबू के घर काम करते हैं। मैं चिंता में पड़ी थी कि इतने में कुछ सिपाहियों ने मेरे मकान के द्वार पर धक्का दिया। मैं चौंककर बाहर की ओर आई, तो देखा, आठ सिपाही घर में घुसे चले आ रहे हैं। उन्होंने घर की तलाशी ली, और मुझसे पूछा—'तेरा पति रात को कहाँ था?'

"मैंने उत्तर में कहा—'वह एक बाबू के दफ़्तर में रोज़ रात को काम करने जाते हैं।'

"उन्होंने कहा—'चलो, तुम्हें तुम्हारा आदमी दिखाएँ।'

"मेरे हृदय में एक प्रकार की व्याकुलता-सी होने लगी, और चुपचाप उनकी बात मानकर चल पड़ी। वे मुझे थाने पर ले गए। वहाँ एक कोने में चादर से ढका हुआ कोई मनुष्य

पड़ा था। उन्होंने चादर उठाकर पूछा—'यही तेरा आदमी है ?' मा, तुम समझ सकती हो, मेरी उस समय क्या दशा हुई होगी। मेरे पति का शरीर लाठियों और गोलियों की मार से स्थान-स्थान पर चोट खाया हुआ था। मैं चीत्कार कर उठी। वह अब संसार में नहीं हैं, इस खयाल ने मुझे कुछ दिनों के लिये पागल बना दिया।

"मेरी बहुत बुरी दशा थी, इस कारण मुझे पुलिस-अस्पताल में रक्खा गया। उस घटना के बीस दिन बाद मेरे दुःख में हाथ बँटाने के लिये बिन्नू भी संसार में आ गया। जब मैं बिलकुल अच्छी होकर अस्पताल से निकली, तो लोगों से मालूम हुआ कि मेरे पति डाके डालते थे, और एक दिन डाका डालते समय पुलिस के हाथ से उस लोक को बिदा हो गए। मैं अब भी इस बात का विश्वास नहीं करती। वह देवता थे मा, पर क्या पता, मेरे ही लिये उन्हें इतना करना पड़ा हो। मेरा घर-बार, कपड़े-लत्ते, सब पुलिस ने ले लिए, और मैं इस प्रकार का जीवन बिताने लगी। इस काँटों से भरे संसार को पार करने के लिये मैंने सब प्रयत्न किए, और कर रही हूँ।

"भगवान् ने लाज रख ली, और आगे भी रक्खेगा। मैं जी रही हूँ केवल अपने बिन्नू के लिये, और उनके पापों का प्रायश्चित्त करने को। पर, जान पड़ता है, मेरी मुक्ति का समय समीप है। बिन्नू का साथ छूटना है। वह नित्य मेरे

सामने आकर खड़े हो जाते हैं, और कहते हैं—'प्रिये, प्रायश्चित्त हो चुका, अब कब आओगी?' मैं उन्हें धैर्य बँधाते-बँधाते थक गई हूँ।"

भिखारिनी इतनी बातें एक झोंक में कह गई। इसके उपरांत वह बहुत देर तक पड़ी रोती रही, और मैं भी अपने आँसुओं को वश में न रख सकी।

उस दिन रात अधिक हो गई थी, इस कारण मैं स्वयं भिखारिनी को उसके घर तक पहुँचा आई। उसकी झोपड़ी देखकर और भी दुःख हुआ। वहाँ केवल एक मिट्टी का घड़ा, एक पतीली और एक चारपाई थी, जिस पर कुछ गुदड़ियाँ पड़ी थीं।

धीरे-धीरे भिखारिनी बहुत बीमार रहने लगी। मैं समय पर जाकर उसे सहायता करती। बिन्नू अपनी मा का साथ छोड़कर अधिकतर मेरे पास खेलता रहता। वह मुझे 'दीदी' कहता था।

नित्य की तरह एक दिन सबेरे मैं भिखारिनी की झोपड़ी में गई। भिखारिनी खाट पर पड़ी शांति की नींद सो रही थी। मैंने पास जाकर पुकारा। परंतु कुछ उत्तर न मिला। जिस बात की आशंका थी, वह पूरी हो गई। बेचारी की तपस्या का अंत हो गया था। श्रद्धा के कुछ आँसू बहाकर मैंने पास ही खेलते हुए बिन्नू पर दृष्टि डाली, और प्रश्न किया—"बिन्नू, तेरी अम्मा क्या कर रही है?"

"वह निन्नी करती है।"

उसके भोलेपन पर मुझे दुःख हुआ।

"चल, तुझे खिलौने दूँगी।" कहकर मैंने बालक को गोदी में उठा लिया, और घर चली आई।

भिखारिनी की अंतिम क्रिया मैंने विधि-पूर्वक कराई। तब से बिन्नू कभी-कभी मा को याद कर लिया करता था।

अब बिन्नू चार वर्ष से मेरे पास है। मैं उसकी मा हूँ, और वह मेरा लाल। कभी-कभी सोचती हूँ, वह भिखारिनी मुझे इतनी बड़ी भेंट दे गई, मेरे घर में उजेला कर गई, क्या मैं उसका बदला कभी चुका सकती हूँ ? मैं उसकी ऋणी हूँ, और जन्म-जन्मांतर रहूँगी। आज जिस सुख को पाकर मैं फूली नहीं समाती हूँ, यदि वह उसके वास्तविक अधिकारी को मिलता, तो उसकी क्या दशा होतीं।

बिन्नू ने पुकारा—"अम्मा !"

मैं चौंक पड़ी, मानो सोते से जगी होऊँ। मैंने कहा—"क्या है बेटा !"

"तुम बोलती क्यों नहीं, क्या नाराज़ हो ?"

मैंने लपककर उसे हृदय से लगा लिया, और बोली—"नहीं बिन्नू, कोई अपने प्यारे बेटे से नाराज़ होता है।"

टप-टप दो बूँदें मेरे गालों पर से लुढ़ककर बिन्नू के मस्तक पर टपक गईं।

भिखारिनी के लिये यही मेरी 'श्रद्धांजलि' थी।

पत्नी का त्याग

मुझे नैनीताल आए एक सप्ताह हो चुका था। दिन का समय था। मैं भोजन इत्यादि से छुट्टी पाकर अख़बार हाथ में लिए बरामदे में बैठा था, इतने में असबाब लिए कुछ क़ुली आते दिखाई दिए। ग़ौर से देखने पर मुझे ज्ञात हुआ कि असबाब किसी बड़े आदमी का है; क्योंकि दो चमड़े के सूटकेसों पर केबिन के लेबिल चिपके थे। मैं इसी बात का निरीक्षण कर रहा था कि इतने में, एक रिक्शा सामने आ लगी, और उसमें से एक दुबला-पतला, गोरे रंग का नवयुवक निकला। उसने उतरते ही मेरी ओर देखा; परंतु मैं अपनी नज़र छिपाने के लिये अख़बार में आँखें गड़ाने लगा। इतने में वह युवक मेरी ओर आकर बोला—"महाशय, क्षमा कीजिएगा, आपको एक कष्ट देता हूँ, कृपया ३ नंबर का कमरा बता दें।" उसकी बातें सुनकर मैं एकदम उठ खड़ा हुआ, और जाकर उसे ३ नंबर का कमरा दिखा दिया। थोड़ी देर में क़ुलियों ने सामान ले जाकर उस कमरे में रख दिया, तब मेरी समझ में आया कि यह महाशय यहाँ रहने आए हैं।

उस दिन लोगों से मैंने सुना कि वह व्यक्ति अजितकुमार

अब मैं समझा, पढ़ाई के कारण अभी तक आप रुके हुए थे।"

मैंने पूछा—"आप भी तो अकेले आए हैं।" मेरे इन शब्दों को सुनकर अजित की मुखाकृति कुछ बदल-सी गई; परन्तु सँभलकर बोले—"जी हाँ, ईश्वर ने मुझे इस संसार में अकेला रहने को ही भेजा है।"

मैंने पूछा—"क्यों, क्या आपका विवाह अभी तक नहीं हुआ?"

उन्होंने कुछ रूखी हँसी हँसकर कहा—"विवाह तो बहुत-से हुए।" परंतु इतना कहने के बाद ही अजित का चेहरा सुस्त-सा पड़ गया। वह कुछ सोचने लगे। इन सब बातों का मतलब मेरी समझ में नहीं आया। इसके बाद अजित ने अनमने होकर कुछ देर और बातें कीं, और अपने कमरे को लौट गए।

दो महीने और व्यतीत हो गए। इस बीच मेरी और अजित की घनिष्ठता ख़ूब बढ़ गई। इतना सब होते हुए भी मैं पूर्ण रूप से अभी तक अजित को नहीं समझ सका था। वह एक विचित्र व्यक्ति थे। मैं उन्हें बहुत कम हँसते, ख़ुश होते देखता। कभी-कभी अजित कई दिनों तक जीवन से उदासीन-से होकर किवाड़े बंद किए पड़े रहते। उस समय उन्हें मेरे साथ रहना भी अच्छा न लगता। यह देखकर मेरी समझ में आया कि अजित की तबियत इसी कारण ठीक नहीं रहती है। इन सब बातों में एक रहस्य छिपा

था, जिसे अजित के साथ इतनी घनिष्ठता होने पर भी उनसे पूछने का मेरा साहस नहीं होता था।

मैं अजित को सदा ख़ुश रखने का प्रयत्न करता। एक दिन अजित चुपचाप कमरे में किवाड़ बंद किए पड़े थे। शाम हो चली थी। मैंने जाकर दरवाज़ा खटखटाया। अजित ने दरवाज़ा खोल दिया। उस दिन भी वह बिलकुल सुस्त थे। इस सुस्ती को दूर कराने के लिये मैंने कहा—"चलो अजित, आज सिनेमा देखने चलें।" अजित की बिलकुल इच्छा न होने पर भी मेरे प्रेम और आग्रह ने उन पर विजय पाई; वह तैयार हो गए। उस दिन गवर्नर साहब भी सिनेमा देखने आनेवाले थे, इसलिये पहले से ही धूम मची हुई थी। हम लोग जल्दी से टिकट लेकर बैठ गए। तमाशा-घर गोरी चमड़ीवालों से ठसाठस भरा था।

उस दिन सिनेमा देखकर जब हम बाहर निकले, तो देखा कि एक योरपियन सुंदरी एक अँगरेज़ की बाँह में बाँह डाले चली जा रही है। उसने अजित को देखते ही मुस्किरा दिया। अजित का मुँह क्रोध और घृणा से लाल हो गया, और वह जल्दी उस स्थान से खिसक गए। मैं आश्चर्य-चकित होकर सोचने लगा, परंतु इन सब बातों के अर्थ मेरी समझ में नहीं आए। लौटती बार अजित मुझसे कहने लगे—"अब मैं कभी सिनेमा देखने न आऊँगा।" मैं चोरों की भाँति चुप होकर उनका मुँह देखने लगा।

उस घटना के बाद एक सप्ताह और बीत गया; परंतु इस सप्ताह-भर अजित की दशा पागलों की-सी रही। वह रात-रात-भर जागते रहते और इधर-से-उधर घूमते। मेरी समझ में कारण न आता। इच्छा होती, उनसे इस विषय में कुछ पूछूँ; परंतु जब चलने को पैर बढ़ाता, तो हिम्मत न होती।

आज तो सुबह से अजित अपने कमरे में थे। मुझसे अधिक न सहन हो सका। बिना खाना खाए मैं उनके कमरे की ओर चला। कमरे की खिड़की में एक छोटा-सा छेद था। मैंने चुपके से खिड़की के भीतर झाँका। भीतर का दृश्य देखकर मैं एकदम दंग-सा रह गया। देखा, अजित एक कुर्सी पर बैठे हैं, उनके हाथ में एक चित्र है, जिसका धुँधला आकार मुझे बाहर से दिखाई दे रहा था। उस चित्र को अजित हाथों में लिए रो रहे थे। एक क्षण में मेरा मुँह पीला पड़ गया। खिड़की के सामने अधिक खड़े न होकर मैंने किवाड़ पर धक्का दिया। कुछ मिनटों के बाद अजित ने किवाड़ खोले। इस समय भी उनके नेत्र अंगारे के समान लाल हो रहे थे।

मैंने पूछा—"क्या अभी तक खाना नहीं खाया?"

अजित ने मेरे कंधे पर प्रेम से हाथ रखते हुए कहा—"नहीं रमेश, आज मेरे सिर में पीड़ा हो रही है।"

मैंने पूछा—"क्या तुम्हारी आँखें इसी कारण लाल हो रही हैं?"

अजित ने मस्तक नत करते हुए कहा—"हाँ, इसी से।"

मुझसे अधिक सहन न हो सका। मैंने अजित का हाथ पकड़कर पूछा—"अजित, तुम मेरे मित्र हो ?"

अजित बोले—"क्यों, क्या इसमें कुछ संदेह है ?"

"अवश्य।"

मेरे इस उत्तर को सुनकर अजित बोले—"रमेश, मेरा तुम पर सच्चा विश्वास और प्रेम है।"

"यदि यह बात ठीक है, तो तुम अपनी उदासीनता का कारण मुझे बताओ।"

मेरी इस बात को सुनकर अजित बोले—"क्या करोगे सुनकर ?"

मेरे आग्रह करने पर अजित कहने लगे—"रमेश, आज से तीन वर्ष पहले मैं भी खूब हृष्ट-पुष्ट और तुम्हारे ही समान सुखी था। उस वर्ष मेरा बी० ए० का दूसरा साल था। माता-पिता की एकमात्र संतान होने के कारण उनकी सब आशाएँ मेरे ऊपर अवलंबित थीं। मैं अपनी कक्षा में सदा ऊँचा रहता। मेरी प्रखर बुद्धि देखकर सबने पिताजी को राय दी कि मुझे आई० सी० एस्० पढ़ने के लिये इँगलंड भेजा जाय। पिताजी इस बात के लिये राज़ी हो गए। विदेश जाने से आठ महीने पहले मेरा विवाह भी कर दिया गया। मेरी पत्नी का नाम नीरा था। वह इंटरमीडिएट पास थी।" उन्होंने गद्दी के नीचे से वही चित्र निकालकर मुझे दिखाते हुए कहा—"देखो रमेश, वह कितनी सुंदर थी।"

यह कहते-कहते कुछ आँसू उनके नेत्रों से टपक पड़े। परंतु वह कहते गए—"नीरा को पाकर मैं अत्यंत सुखी था। मुझे अब भी याद है कि एक बार जब नीरा मायके गई, तो मेरी क्या दशा थी, पिताजी मेरा मुँह देखकर ताड़ गए, और दस दिन के भीतर ही नीरा को बुला लिया।

"मेरी यात्रा का समय निकट आ रहा था; परंतु इस वियोग की कल्पना करते ही मैं हतबुद्धि-सा हो जाता। मेरी ऐसी दशा देखकर नीरा आँसुओं से अपना दुःख प्रकट करती।

"बिदा होते समय नीरा फूट-फूटकर रोई। उस समय उसे अपने तन की भी सुध नहीं थी। किसी प्रकार मेरे तिलक लगाकर गले में जयमाल डाली। ख़ैर, माता, पिता और नीरा को छटपटाते छोड़ मैं चल पड़ा।

"लंदन पहुँचकर भी कुछ दिन मैं बहुत दुखी रहा। प्रति दिवस लंबी-लंबी चिट्ठी घर भेजता; परंतु फिर, आगे अपना कर्तव्य देखकर, मैं सब बातें भुलाने की चेष्टा करने लगा। इँगलैंड का जीवन कुछ और ही था। जिधर देखो, उधर तड़क-भड़क दिखाई पड़ती। मैं एक होटल में रहने लगा। वहाँ की वेटरेसों को देखकर मैं उनकी तड़क-भड़क का कुछ अनुमान न कर पाता। उनके रूप-सौंदर्य को देखकर मैं भारत की स्त्रियों से उनकी तुलना करने लगता, तब मुझे मालूम होता कि नीरा भी इतनी सुंदरी होकर इन स्त्रियों

की बराबरी नहीं कर सकती है । वे वेटरेसें बड़े प्रेम और सहानुभूति से बोलती थीं। इस कारण मैं उनके ऊपर और भी मोहित हो गया। दो महीने के भीतर मैं आधा अँगरेज़ बन गया था। जिधर देखो, उधर मेरे रूप की चर्चा छिड़ी रहती। एक दिन मेरे होटल में एक रशियन स्त्री आकर टिकी। उन दिनों इँगलैंड में प्रदर्शनी हो रही थी। संयोग-वश उसी दिन मेरी लैंड-लेडी ने मेरा परिचय उस महिला से कराया। उसका नाम मारग्रेट मोनरो था। मिस मोनरो ने दो दिन बाद शाम को प्रदर्शनी देखने चलने का मुझसे आग्रह किया। ख़ैर, मैं कैसे टाल सकता था, गया। रात को घर लौटने पर मारग्रेट को गुड नाइट करके मैं अपने कमरे में चला आया। उस दिन मुझे कुछ भूख नहीं थी; इसलिये खाने को मना करके, वे कपड़े बदल, पुस्तक लेकर मैं बिछौने पर लेट गया; परंतु मेरा मन पढ़ने में बिलकुल न लगा। कुछ समय निष्फल प्रयत्न करके मैंने पुस्तक बंद कर दी। उस रात मैं मारग्रेट के विषय में सोचता रहा। मैंने नीरा से उसकी तुलना की। मुझे ज्ञात होने लगा कि मारग्रेट के सौंदर्य के आगे नीरा कुछ भी नहीं है।

"इसी प्रकार एक सप्ताह व्यतीत हो गया। मेरी घनिष्ठता मारग्रेट से बहुत बढ़ गई थी। वह बहुधा मेरे कमरे में आया करती। मैं उससे अपनी पढ़ाई के विषय में बातें करता। भारत का नाम उसने भी सुना था। उसे पूरा विश्वास था

कि भारतवासी अपने देश का गर्व करते हैं। और, करते भी क्यों नहीं, क्योंकि पश्चिम के लोग भारत को स्वर्ग समझते हैं।

"इँगलैंड के जीवन में पदार्पण कर मैं भी हमेशा अपने को मशग़ूल समझता। यहाँ तक कि पत्र लिखने को भी समय न मिलता।

"प्रदर्शनी दो महीने तक होनेवाली थी। मैंने पिताजी को लिखा—'रुपया भेजिए, घर के लिये प्रदर्शनी से अच्छी-अच्छी चीज़ें ख़रीदूँगा।' पिताजी ने तार द्वारा कुछ रुपए मुझे भेज दिए। रुपए पाकर मैं अत्यंत प्रसन्न हुआ। उस दिन मारग्रेट प्रदर्शनी देखने नहीं गई; क्योंकि पिछले दो दिन से उसकी तबियत ख़राब थी। मैं रुपए लेकर अकेला ही गया। वहाँ जाकर मेरा विचार बदल गया; सोचा, अभी से सामान ख़रीदकर क्या करूँगा, जब घर जाने का समय आवेगा, तब ले लूँगा।

"घूमते-घूमते मैं एक जौहरी की दूकान पर पहुँचा। वहाँ शीशे के केसों में रक्खे हुए ज़ेवर ख़ूब चमक रहे थे। उन सब चीज़ों में एक ब्रेसलेट था, जो मिस मोनरो को पहले दिन बहुत पसंद आया था। मैंने सोचा, नीरा के लिये ख़रीद लूँ। जौहरी ने मुझे ब्रेसलेट निकाल-कर दिखाया। उसमें आफ़्रिका के हीरे जड़े हुए थे; परंतु उसका मूल्य बहुत था। मैंने साहस करके ब्रेसलेट ख़रीद

लिया, और अपने होटल को लौट चला। रास्ते-भर मैं यही सोचता जाता था कि नीरा इस ब्रेसलेट को देखकर कितनी प्रसन्न होगी। मेरे पैर ज़मीन से खूब ऊँचे उठने लगे। लगभग एक घंटे बाद एक वेटरेस ने आकर कहा—'आपको मिस सोनरो बुलाती हैं।' मैं सीधा उसके कमरे में चला गया। उस समय उसे ज्वर चढ़ा था। उसने अपने गरम हाथ में मेरा हाथ दबाते हुए कहा—'मिस्टर कुमार, आपसे मिलने की बड़ी इच्छा हो रही थी।'

"मैंने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—'क्या आपको ज्वर है?'

"उसने कहा—'हाँ, कल रात को कुछ ठंड खा गई थी।'

"मैंने अपना ठंडा हाथ उसके सिर पर रख दिया। उसने मेरी ओर निहारते हुए कहा—'मिस्टर कुमार, आप कितने सुंदर हैं, क्या आपके समान सब भारतवासी सुंदर होते हैं?'

"मारग्रेट की इस बात को सुनकर मैं कुछ झेंप-सा गया। अपनी शर्म छिपाने के लिये मैंने रूमाल निकालने को अपना हाथ जेब में डाला। दैव-योग से ब्रेसलेटवाला केस मेरे हाथ में आ गया। मैंने जल्दी से उसे निकाल मारग्रेट के हाथ में रखते हुए कहा—'मैं आपके लिये ब्रेसलेट ख़रीद लाया हूँ।' उसने झपटकर मेरे हाथ से ब्रेसलेट लेकर देखा। एक बार उन हीरों को देखते ही उसकी आँखें चमकने लगीं। उसे इस ब्रेसलेट को पाने की ज़रा भी आशा न थी। मेरी ओर

देखकर वह अत्यंत कृतज्ञता-पूर्वक बोली—'तुम कितने अच्छे हो !' इसके बाद मैं बहुत देर उसके पास बैठा रहा। उस दिन मुझे रात-भर नींद नहीं आई। मैं अनुभव करने लगा कि मैं मारग्रेट से प्रेम करता हूँ, साथ ही ब्रेसलेट का भी ध्यान आया। वह तो नीरा के लिये मोल लिया था; परंतु जाने किस शक्ति के वश हो मैंने उसे मारग्रेट को दे दिया।

"एक महीने बाद मारग्रेट को रशिया लौटना पड़ा। जाते समय वह फूट-फूटकर रोई। मुझे भी उससे अलग होने का दुःख हुआ; परंतु क्या करता ? हम लोगों ने एक दूसरे को पत्र लिखने का वचन दिया था।

"मेरी परीक्षा के छ महीने थे। पढ़ाई बिलकुल नहीं हो पाई थी। मारग्रेट की स्मृति ने कुछ दिन तक बहुत तंग किया। इसके उपरांत मैं पढ़ाई में लग गया। यहाँ तक कि दस-बारह घंटे रोज पढ़ता। इस कारण मुझे चिट्ठी लिखने का समय भी न मिलता। प्रत्येक पत्र में नीरा जल्दी पत्र डालने की प्रार्थना करती; परंतु मैं हर बीसवें दिन पत्र डालता। घर पर सब समझते थे कि मैं पढ़ाई में लगा हूँगा। हाँ, मारग्रेट को सप्ताह में एक बार पत्र अवश्य लिखता। मारग्रेट मुझे हरएक पत्र में लिखती कि वह मुझसे बड़ा प्रेम करती है। उसे मेरे विना जीवन व्यर्थ मालूम होता था। मेरी भी वही दशा थी; परंतु हम लोग एक दूसरे को समझाने का प्रयत्न करते थे।

"किसी प्रकार ज्यों-त्यों करके मेरी परीक्षा समाप्त हुई, और

मैं पास भी हो गया। मारग्रेट ने मुझे मिलने के लिये रशिया बुलाया था। इसके लिये मैंने पिताजी से रुपया माँगा। उन्होंने एक चेक मेरे नाम भेज दिया। क्योंकि वह स्वयं चाहते थे कि मैं योरप में घूम लूँ। रुपया आते ही मैं रशिया पहुँच गया। मारग्रेट मुझे देखते ही प्रसन्नता से नाच उठी। मैंने भी मानो अपनी खोई निधि पा ली।

"मैं एक महीने मारग्रेट के साथ रहा। उसने इस बीच में मुझसे विवाह करने का प्रस्ताव किया। यह सुनकर पहले तो मैं कुछ चौंका; परंतु उत्तर देने से पहले एक सप्ताह तक खूब सोचा, और अंत में इस निर्णय पर पहुँचा कि यदि मैं एक बिवाह और कर लूँ, तो कुछ हानि नहीं। नीरा तो देवी है, वह मारग्रेट को देखकर बड़ी प्रसन्न होगी। और फिर मारग्रेट भी तो एक अप्सरा थी। ख़ैर, मेरा विवाह हो गया, और हम दोनो भारत के लिये रवाना हो गए। अपने विवाह के विषय मे मैंने पिताजी या घर के किसी भी व्यक्ति को नहीं लिखा था।

"बाईस दिन के लंबे सफ़र के उपरांत हम लोग बंबई पहुँचे। नीरा और माता-पिता मुझे लेने जहाज़ तक आए। मेरे साथ एक और महिला को देखकर वे लोग आश्चर्य में रह गए। मैंने पिताजी से मारग्रेट का परिचय कराया। इसके बाद हम लोग तैयार होकर चल दिए; परंतु अभी तक किसी को यह नहीं मालूम हुआ था कि मारग्रेट मेरी पत्नी है।

"अंत में जो होना था, वही हुआ। सबको मेरे विवाह का रहस्य मालूम हो गया। पिताजी ने मुझसे कुछ नहीं कहा, परंतु उनके मुख पर दुःख और पश्चात्ताप की झलक थी। मा तो यह सुनकर बहुत ही रोईं, और नीरा की दशा का कुछ पूछना ही नहीं था। मैं यह सब देखकर आश्चर्य-चकित-सा रह गया; क्योंकि मेरा पक्का विश्वास था कि अप्सरा के समान सुंदरी मारग्रेट को पाकर सब सुखी होंगे। ख़ैर, मेरी आँखों के सामने से परदा उठ गया। दो-तीन दिन बाद पिताजी ने मुझसे एक अलग बँगला लेकर उसमें मार-ग्रेट को ठहराने को कहा; क्योंकि एक हिंदू के घर में इस प्रकार दूसरी जाति की स्त्री रखना बुरा माना जाता है। पिताजी की इस बात को सुनकर मुझे कुछ क्रोध-सा आया। मैंने उसी दिन सिविल लाइन में किराए का बँगला ले लिया, और वहीं हम दोनो रहने लगे। मैंने नीरा से भी चलने को कहा; परंतु वह सास को छोड़कर चलने के लिये तैयार न हुई। मैं समझ गया कि नीरा भी मुझसे घृणा करने लगी है। इन सब बातों ने मेरे ऊपर कुछ प्रभाव न डाला; क्योंकि मैं मारग्रेट के प्रेम में मतवाला हो रहा था।

"मारग्रेट भारत का वैभव देखकर बड़ी चकित थी। उसे साड़ी का पहनावा बहुत पसंद आया; इसलिये मेरी इच्छा न रहते भी उसने भारतीय वेश-भूषा को अपना लिया था। नीरा कभी-कभी बँगले पर हम लोगों से मिलने आती;

लेकिन मैं अधिकतर कतराके निकल जाता। उसके सामने खड़े होने का मेरा साहस नहीं होता था। मारग्रेट को नहीं मालूम था कि नीरा मेरी पत्नी है; इसलिये एक दिन वह नीरा से पूछ बैठी—'अजित तुम्हारे कौन लगते हैं?'

"मैं उस समय अपने ऑफ़िस में बैठा कुछ काम कर रहा था। मैंने नीरा का उत्तर सुना।

"वह कहने लगी—'यह मेरे कोई नहीं हैं, केवल इनकी मा ने मुझे बचपने से पाला है।'

"नीरा का यह उत्तर सुनकर मैं दंग रह गया। इच्छा हुई, उठकर एक बार उस देवी के पैर पकड़ लूँ, परंतु मर्यादा भंग होने के डर से मैं चुप रहा। उस दिन नीरा कुछ अपनी साड़ियाँ और ज़ेवर लाई थी। उसने सब सामान मारग्रेट को दे दिया। मारग्रेट इतनी सारी चीज़ें पाकर बहुत प्रसन्न हुई। उसने चट नीरा का मुख चूम लिया, और दौड़कर सामान रखने चली गई। अवकाश पाकर नीरा ने मेरे कमरे में पैर रक्खा; परंतु मेरा उसकी ओर देखने का साहस न हुआ। उसने मेरे पैर पकड़कर कहा—'नाथ!'

"मैंने चट खड़े होते हुए कहा—'नीरा, तुम हो!'

"नीरा मेरी बात सुनकर रोने लगी। मैं डर से काँप गया। यदि मारग्रेट यह रहस्य जान लेगी, तो क्या होगा? इसलिये मैं जल्दी से बोला—'नीरा, इस समय मुझे फ़ुरसत नहीं है,

तुम घर जाओ।' मेरी बात सुनकर नीरा ने एक बार मेरे पैर पकड़ लिए, और बाहर चली गई।

"समय की गोद में चार महीने और खेल गए; परंतु इसका मैं अनुमान न कर सका कि वे विलास और सुख के दिन किस प्रकार व्यतीत हुए। मेरी नौकरी लग गई थी; इसलिये मैं अधिकतर दौरे पर रहता। मेरे पड़ोस में एक अँगरेज़ रहता था। उसे सब मिस्टर मेंसन कहकर पुकारते थे। उसे भारत आए केवल एक वर्ष हुआ था। खूब कमाता था, ब्याह नहीं किया था; इससे बिलकुल अकेला था। मेरी मित्रता मिस्टर मेंसन से हो गई। इसलिये जब मैं मारग्रेट को घर में छोड़कर दौरे पर जाता, तो मिस्टर मेंसन को घर का ध्यान रखने को कह जाता।

"धीरे-धीरे मारग्रेट की घनिष्ठता मिस्टर मेंसन से बढ़ने लगी। मेरे रहते हुए भी वह मिस्टर मेंसन के साथ नाचने और तमाशा देखने जाती थी। उसका ऐसा व्यवहार देखकर मैंने एक दिन उसे टोका; किंतु मेरी बात सुनकर वह बड़ी लाल-पीली हुई। उसके बाद हम लोगों में झगड़ा होने लगा, और अंत में उसने मुझसे तलाक़ देने को कहा। मैं एक दिन बड़े क्रोध में था। उसी दिन कोर्ट जाकर हम लोगों ने तलाक़ ले लिया, और ठीक उसके एक सप्ताह बाद मारग्रेट ने मिस्टर मेंसन से विवाह कर लिया।

"झगड़ों में पड़े रहने के कारण मैंने घर की भी कुछ ख़बर

न ली थी। नीरा तो उस घटना के बाद दिखाई ही न पड़ी। मैं अपने किए पर बहुत पछता रहा था। मैंने मारग्रेट के पीछे हज़ारों रुपए पर पानी फेर दिया था। फिर मुझे नीरा का ध्यान आया। उस समय मेरे हृदय में सहस्रों बिच्छू डंक मारने लगे। बेचारी नीरा ! उसने क्या अपराध किया था, जो उसे यह दुःख देखना पड़ा। फिर मैंने सोचा—अब भी देर नहीं हुई है। उससे क्षमा माँग लूँगा। मैं मोटर लेकर सीधा अपने घर गया, माता-पिता से अपने किए के लिये क्षमा-प्रार्थना की ; परंतु नीरा घर में दिखाई न पड़ी। मैंने मा से पूछा—'नीरा कहाँ है ?'

"मा आँखों में आँसू भरकर बोलीं—'वह अभागिनी तो एक महीना हुआ अपने पिता के घर गई है। वहाँ जाकर उसने विष-पान कर लिया था ; किंतु पता लग जाने पर बच गई। अब वह बहुत बीमार है। डॉक्टरों ने बिलकुल आशा छोड़ दी है।'

"यह सुनकर मेरी आँखों के आगे अँधेरा छा गया। रात की ट्रेन से नीरा के पास जाने का निश्चय कर मैं असबाब ठीक करने लगा। दिन की डाक से मेरे नाम ससुरजी की एक चिट्ठी आई। उसमें लिखा था—'नीरा अब इस लोक में नहीं है। वह एक चिट्ठी छोड़ गई है, उसे भेजता हूँ।'

"उस समय मुझे ऐसा कष्ट हुआ, मानो किसी ने मेरे ऊपर पहाड़ ढकेल दिया हो। मैंने नीरा का पत्र खोलकर पढ़ा। उसमें लिखा था—

"'जीवन-धन,

मेरी बड़ी इच्छा थी कि इस जीवन में, आपकी सेवा करके, अपने को सौभाग्यशालिनी बनाती; परंतु विधि विपरीत था। इसलिये इस व्यर्थ जीवन का अंत किए देती हूँ। आप और बहन मारग्रेट सुख से रहिए। कभी-कभी इस अभागिनी को भी याद कर लिया कीजिए।.........'

"मैं अधिक न पढ़ सका। मालूम नहीं, कब मेरी आँखें बंद हो गईं। सच कहता हूँ रमेश! उस बेहोशी में बड़ा सुख था। उसके बाद आज छ महीने हो गए हैं, मेरी आत्मा को शांति नहीं मिलती। उस दिन सिनमा में मारग्रेट ने मेरी ओर देखकर मुस्किरा दिया था। यदि वश चले, तो आज उसका सर्वनाश कर दूँ।"

अजित की दुःख-पूर्ण कहानी सुनकर मैंने एक ठंडी साँस ली। उन्हें खूब समझा-बुझाकर नाश्ता कराया। शाम को भी उसे साथ ही घुमाने को ले गया। हम लोगों ने ताल की सैर की; परंतु वह पूरे समय चुप रहे।

दूसरे दिन सबेरे लगभग छ बजे मैं नहा-धोकर कपड़े पहन रहा था, इतने में होटल के मैनेजर ने आकर मुझसे कहा—"मिस्टर अजितकुमार ने आत्महत्या कर ली है!" मैं लपका हुआ अजित के कमरे में गया। उनकी ठंडी देह चारपाई पर पड़ी थी, और पास ही मेज़ पर एक लिफ़ाफ़ा पड़ा था। लिफ़ाफ़ा मेरे नाम का था,

इसलिये मैं जल्दी से खोलकर उसे पढ़ने लगा। उसमें लिखा था—

"भाई रमेश,

इस समय रात के दो बजे हैं। मुझे नीरा ने बुलाया है; अपने अपराधों को क्षमा कराने जाता हूँ। मैं बहुत सोच-समझकर आत्महत्या कर रहा हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ, मेरा जीवन व्यर्थ है। तुम्हें मैंने अपना भाई बनाया है; तुम जाकर मेरे माता-पिता को ढाढ़स देना और उनकी सेवा करना। नीरा जल्दी कर रही है। मेरी भी इच्छा बड़ी प्रबल हो रही है। अब उससे मिलकर शांति पाऊँगा। क्षमा करना।

तुम्हारा भाई

अजित"

मैंने देखा, उसी मेज़ पर एक टिंक्चर की ख़ाली शीशी पड़ी थी। चारो ओर लोगों की भीड़ जमा थी। मैंने जल्दी से अजित के माता-पिता को तार दिया। इसके उपरांत बरफ़ में रखकर उसका शव भेजने की योजना की गई। मैंने शव के साथ जाने का निश्चय किया। दिन के बारह बजे तक अजित का शव बरफ़-भरे बक्स में रखकर तैयार हो गया। अपना सब सामान मैनेजर को सौंपकर मैं चल दिया।

चलते समय मैंने देखा, मारग्रेट और मिस्टर मेंसन चले आ रहे हैं। उनके हाथों में एक-एक हार और गुलदस्ते थे।

मारग्रेट ने वे सब फूल अजित के बक्स पर रख दिए, और फिर उसे चूमा।

मैंने घृणा से उसकी ओर देखा; परंतु उसकी दशा बड़ी करुणामयी हो रही थी। रोते-रोते उसके नेत्र लाल हो गए थे, वह भी रो रही थी।

मेरी मोटर चल पड़ी। बहुत दूर से मैंने देखा कि मारग्रेट और मिस्टर मेंसन अब भी खड़े मोटर की ओर निहार रहे हैं।

होली

"भाभी, कल तुम्हें अवश्य हमारे साथ होली खेलनी होगी।"

उपर्युक्त वाक्य कहते हुए नवीन ने रमा के कमरे में प्रवेश किया।

रमा इस समय अपने विचारों में मग्न थी। अचानक बाधा पहुँचने से चौंक पड़ी। नवीन का उत्तर सुना-अनसुना करके बैठने के लिये एक चौकी आगे बढ़ा दी।

"उत्तर दो?" नवीन ने उतावली दिखाते हुए कहा।

"हाँ-हाँ, खेलूँगी क्यों नहीं छोटे बाबू!"

"यह बात पक्की रही। समय पर छिप न जाना, नहीं तो फिर कहीं किवाड़ इत्यादि तोड़ने का कष्ट उठाना पड़े।" कहते हुए नवीन ने मुट्ठी-भर गुलाल रमा के सिर पर बिखेर दिया, और भाग गया।

रमा इस सबके लिये तनिक भी प्रस्तुत न थी। सास देखेंगी, तो क्या कहेंगी, यह सोचकर सिर साफ़ करने के लिये उठ खड़ी हुई। सामने दर्पण था, चंचल नेत्र कब रुकने-वाले थे, एक क्षण में वहाँ भी जा पहुँचे। रमा ने देखा, उसकी माँग गुलाल से भरी हुई है। वह सिहर उठी, जिस अधिकार से वह च्युत कर दी गई है, उसे पाने की चेष्टा कैसी? रमा

ने शीघ्रता से अपने शीश पर दो-तीन लोटे पानी उँडेल लिया, और कमरे में आकर बैठ गई। उसे एकाएक अपने बीते दिनों का स्मरण हो आया।

तेरह वर्ष की रमा गौना होकर ससुराल आई थी, तब सास ने उसका कितना आदर-सम्मान किया था। छोटी होने के कारण रमा निहंग लाड़ली-सी फिरा करती। भाग्य ने विश्वासघात किया। डेढ़ वर्ष के अल्प समय के उपरांत रमा का सौभाग्य-सिंदूर पुछ गया।

इसके बाद रमा अपने मैके चली गई थी। वहाँ उसे कभी इतना अवसर नहीं दिया जाता कि वह पति के विषय में सोचे। छोटे भाई-बहनों में वह स्वतंत्र हरिणी के समान खेलती-कूदती थी। दो वर्ष मा के घर रह लेने पर रमा को ससुराल आना ही पड़ा। परंतु जब से वह यहाँ आई, हर समय उसे पति की याद दुखी बनाए रखती। विवाह के उपरांत जब रमा की प्रथम होली मनाई गई थी, उस समय और किसी बहू की इतनी पूछ न हुई थी। रमा को नई साड़ी मिली थी, नए आभूषण मिले थे, और नाइन महावर लगाने आई थी। उस समय वह अपने को स्वर्ग की किसी अप्सरा से कम न समझती थी। वह इठलाती हुई अपने पति के पास गई थी, उसका सुंदर रूप देखकर वह कुछ समय चकित-से उसकी ओर निहारते रहे, और फिर बोले—"तुम तो बड़ी सुंदर लग रही हो।"

"आप हँसी करते हैं, मैं जाती हूँ।" कहकर रमा रूठकर

जाने लगी। उस समय पति ने किसी प्रकार रमा को पकड़ा था, और रमा मुट्ठी-भर गलाल उनके मुख पर पोतकर भाग गई थी। कल क्या रमा उसी प्रकार गर्व से नूपुर-झंकार करती हुई इधर-से-उधर घूमेगी? नहीं, जब पति ही नहीं, तो उसका आदर कहाँ। रमा अधिक सहन न कर सकी, वहीं चटाई पर लेटकर रोने लगी, परंतु अब उसे रोने की स्वतंत्रता भी नहीं थी।

सास ने आकर पुकारा—"छोटी बहू, काम के समय कमरे में पड़ी क्या कर रही है? बहू-बेटियाँ पकवान बनाने में लगी हैं, तुम जाकर रसोई देखो।"

रमा आँसू पोछकर उठ खड़ी हुई। सास की निष्ठुरता पर हृदय रुदन करने लगा। पिछली होली पर सास-ननँद रमा को पकवान बनवाने के लिये बुलाकर ले गई थीं, क्योंकि सगुन था; परंतु आज उसे किसी ने पूछा तक भी नहीं। एक बार स्वयं सहायता देने आई, तो सास ने कहा—"बहू, तुम पकवानों में हाथ न डालना।" आहत अभिमान तड़फ उठा। इच्छा हुई, पूछे—"क्यों, मैं अछूत हूँ?" परंतु हृदय ने स्वयं उत्तर दे दिया—"तू विधवा है।"

सबको खिला-पिला लेने के उपरांत रमा विना खाए अपने कमरे में लौट आई। बाहर सब घर के लोग होली की तैयारी में प्रसन्न मन से लगे हुए थे, और रमा अपने फूटे भाग्य को रो रही थी। मालूम नहीं, कब निद्रा ने उसके नेत्रों को अपने शीतल स्पर्श से स्वप्न-लोक में पहुँचा दिया। सिसकियाँ

ख़ुराटों में परिवर्तित हो गईं। रमा को यदि मालूम होता कि यही निद्रा उसके जीवन की समस्त शांति और सुख उसे फिर से लौटा देगी, तो, संभव है, वह उसका आवाहन तथा उसके स्वागत की तैयारी करती। जिन विचारों में लीन रमा सोई थी, वे विचार निद्रित अवस्था में भी स्वप्न बन-कर उसके हृदय को कष्ट देने लगे। अधिक सहन न कर सकने के कारण रमा ने आर्त स्वर से पुकारा—"प्रियतम, अब अधिक न रूठो, अपनी रमा के पास लौट आओ।" भगवान् भक्त की पुकार सुनकर जैसे दौड़ आते हैं, उसी प्रकार रमा ने देखा, उसके सर्वस्व उसकी ओर डग बढ़ाए चले आ रहे हैं। रमा ने देखा, वही रूप, वही हँसता हुआ मुखड़ा; पहचानने में समय न लगा। हाथ फैलाकर रमा ने स्वामी के पैरों में बेड़ियाँ डाल दीं। "तुम भाग गए थे; लो, अब तो मैंने पकड़ लिया, मैं तुम्हें कदापि नहीं छोड़ूँगी। नहीं फिर धोखा देकर चले जाओगे। तुम बड़े छलिया हो।"

रमा ने हाथ पकड़कर स्वामी को पलँग पर बिठा लिया, और बोली—"तुम चुप क्यों हो? क्या रुष्ट हो गए? मैं समझ गई, मेरे कपड़े अच्छे नहीं हैं, मैंने शृंगार नहीं किया है। अच्छा, ठहरो, मैं सजकर आती हूँ, तुम मुझसे फिर वही वाक्य कहना, 'तुम तो बड़ी सुंदर लग रही हो।' फिर मैं तुम्हें उसी भाँति गुलाल लगाकर हँस पड़ूँगी। परंतु रूठूँगी नहीं, कहीं तुम पहले की भाँति रुष्ट होकर चले न जाओ।"

रमा ने अनुभव किया कि उसके पति कह रहे हैं—"नहीं रमा, तुम्हें मेरे बिना कष्ट होता है, अब नहीं जाऊँगा।"

अपना आँचल पति की ओर बढ़ाती हुई रमा बोली—"मुझे रूखे वस्त्र अच्छे नहीं लगते, मैं अभी सुंदर वस्त्र धारण करती हूँ। मुझसे संसार छल कर रहा था, अब मुझे कोई धोखा नहीं दे सकता। तुम मेरे हो।"

रमा झोंक में बिस्तर से उठ खड़ी हुई। बक्स खोलकर अपने विवाह की साड़ी निकाली। उसे धारण कर दर्पण के सामने गई। उसका सुंदर रूप दर्पण से झाँक-झाँककर हँस रहा था। अपने समस्त आभूषण निकालकर रमा ने पहने, और नवीन के हाथ से लगाते समय जो गुलाल पृथ्वी पर बिखर गया था, उसे उठाकर रमा ने माँग भरी। अपने खोए सुख को पाकर वह फूली न समाती थी। पूर्ण शृंगार कर लेने के उपरांत उसने मुड़कर पति की ओर चलना चाहा, परंतु यह क्या ? वह कहाँ चले गए ? ओह, विश्वासघात! कहकर रमा ने उन्मत्त भाव से दीवार में सिर दे मारा। रक्त की धार बह निकली। रमा शांत होकर बिस्तर पर लेट गई, मानो उसके उन्मत्त भाव रक्त के साथ बह निकले हों।

होली का सबेरा था। नवीन ने तड़के ही उठकर रंग से घर भर दिया। बहुत समय निकल गया, भाभी कमरे से नहीं निकलीं। नवीन सस्ते में छूटनेवाला असामी नहीं था।

दौड़कर धड़धड़ाता हुआ भाभी के कमरे में घुस गया। परंतु जो दृश्य देखा, उससे नवीन के होश उड़ गए।

रमा के कांति-हीन अधरों पर एक शुष्क मुसकान छा गई। "आश्चर्य किस बात का है छोटे बाबू! मैंने तुम्हारे कहे अनुसार होली खेली है।" कहते हुए रमा ने रक्त-रंजित अपनी सुंदर साड़ी का आँचल नवीन के आगे फैला दिया।

अचानक रमा की सास उधर से आ निकलीं। रमा की दशा देखकर उनके मुख से निकल पड़ा—"छोटी बहू, यह क्या किया?"

उसी प्रकार हँसकर, रमा बोली—"अम्मा कल मुझसे छोटे बाबू होली खेलने आए थे; देखिए, साड़ी ख़राब कर दी।"

सास ने दुःख से पागल होकर रमा को गले से लगा लिया, और रमा को उस वेदना में भी सुख की अनुभूति होने लगी।

❀ ❀ ❀

समय की गोद में कुछ वर्ष और खेल गए। उस होली के बाद रमा प्रायः प्रत्येक होली पर पति की प्रतीक्षा करती है।

होली के दिन वह शाम से ही बिस्तरे पर बैठकर निद्रा को बुलाती है, परंतु व्यर्थ। अज्ञान के गर्त में पड़ी दुखिया क्या जाने कि उसकी प्रतीक्षा इस लोक में अनंत रहेगी। नवीन को तब से भय समा गया है। वह रमा से कभी होली खेलने का अनुरोध नहीं करता है।

अतीत के चित्र

रजनी का आगमन हो चुका था। तारक-खचित नील गगन में चंद्रमा हँस रहा था। ज्येष्ठ की धूप से तपी हुई पृथ्वी चंद्रिका की धवल चादर ओढ़कर अपने को शीतल करने का प्रयत्न कर रही थी। मैं दिन-भर के परिश्रम के उपरांत, अपनी थकावट मिटाने के अभिप्राय से, छत पर पहुँचा। देखा, प्रकृति शांत थी। कभी-कभी वायु का एक झोंका मेरे वस्त्रों से अठखेलियाँ करके चला जाता। हास्य-वदना कल्पना ने अचानक पीछे से आकर मेरे नेत्र मूँद लिए।

मैंने पूछा—"कौन ?"

उत्तर मिला—"मैं हूँ 'कल्पना'। तुमसे अठखेलियाँ करने आई हूँ।"

कल्पना मेरे सम्मुख आकर खड़ी हो गई। मेरे नेत्र आकाश की ओर उठ गए। देखा, चंद्रमा पृथ्वी से व्यंग्य कर रहा था। तारे एक दूसरे की ओर निहारकर मुस्किरा रहे थे। मैंने सोचा, चलो, मैं भी कुछ आनंद मनाऊँ।

कल्पना के हाथ में एक बड़ी-सी पोटली थी। मैंने पूछा—"इसमें क्या है कल्पना ?"

उसने हँसकर उत्तर दिया—"अतीत के चित्र।"

मैं उत्सुकता-पूर्वक बोल उठा—"लाओ, देखूँ।"

कल्पना ने पोटली खोली, और दिखाना आरंभ किया। भोले बचपन के अनेक चित्र, चित्रपट की तसवीरों की तरह, मेरे सम्मुख आए और निकल गए।

मैंने एक आह खींचकर कहा—"कैसा सुखमय था वह जीवन ? बहुत-सी पिछली घटनाएँ मस्तिष्क में चक्कर काटने लगीं। इतने में कल्पना ने मुझे एक और चित्र दिखाया। अचानक मुझे अपने विद्यार्थी-जीवन की एक घटना याद आ गई। उन दिनों मैं बी० ए० फ़ाइनल की तैयारी कर रहा था। जाड़े के दिन आ गए। मुझे कुछ गरम कपड़े बनवाने थे, इस कारण एक रविवार को, कुछ रुपए लेकर, मैं चौक चल पड़ा। उस दिन मैं अकेला ही था ; क्योंकि और कोई लड़का मेरे साथ चलने को तैयार न हुआ। मैं केवल एक दूकान से कपड़ा मोल लेता था, इस कारण उस दूकान की ओर चल पड़ा। परंतु जब केवल बीस पग का अंतर रह गया, तो अचानक पीछे से किसी ने पुकारा—"बाबू!" मैंने मुड़कर देखा, एक युवती हबूड़िन मेरी ओर चली आ रही है।

वह पास आकर बोली—"चश्मा लोगे ?"

मैंने पूछा—"धूप का चश्मा है ?"

उत्तर में हबूड़िन ने सिर हिलाते हुए एक चश्मा मेरे आगे कर दिया। चश्मा बहुत मामूली था। कम-से-कम जिस प्रकार

का मैं लेना चाहता था, वैसा नहीं था। मालूम नहीं क्यों, इच्छा न रहते हुए भी, मैं उसका मूल्य पूछ बैठा।

वह बोली—"चार रुपए।"

मुझे हँसी आ गई; तीन-चार आने के चश्मे के लिये चार रुपए!

मेरी इस समय की हँसी हबूड़िन को बड़ी बुरी लगी। उसने तीव्र दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए कहा—"तुम क्या दोगे?"

मैंने कहा—"कुछ नहीं।" और उसकी ओर निहारने लगा। यह तो स्वाभाविक ही है कि जो वस्तु सुंदर होती है, उसकी ओर मनुष्य की दृष्टि उठ जाती है; क्योंकि मनुष्य सौंदर्योपासक प्राणी है। उसके लंबे खिंचे हुए नेत्र सुरमा लगने से बड़े रसीले मालूम होते थे। मैं उन्हीं को घूरने लगा।

उसे मेरी इस धृष्टता पर क्रोध आया। वह बोली—"बाबू, तुम बताओ, क्या दाम दोगे?"

मैंने दृढ़ता-पूर्वक सिर हिलाकर फिर कहा—"कुछ नहीं।"

वह बड़ी लाल-पीली हुई। बोली—"तुम जवान औरत से दिल्लगी करते हो! तुम्हें चश्मा ख़रीदना होगा।"

मैं उसकी इस जबरदस्ती की बात सुनकर भौचक्का-सा रह गया। उसने जल्दी से अपने बेग से एक चमकती हुई क़ैंची निकाली, और अपनी छँगुनिया की एक पोर काट दी। रक्त की धार बह निकली। मैं यह दृश्य न देख सका। नेत्र

बंद हो गए। अचानक हाथ जेब में पहुँचा, और पाँच रुपए का एक नोट निकालकर मैंने उसके आगे कर दिया।

उसने नोट लेते हुए कहा—"हम लोग अपनी बात के पक्के होते हैं। जान पर खेलना कौन बड़ी बात है!"

उसके कष्ट के कारण डबडबाए नेत्रों में एक क्षण के लिये प्रसन्नता की झलक दिखाई दी। यह उसकी विजय की प्रसन्नता थी।

उसने चश्मे का मूल्य चार रुपए ले लिए, और शेष एक रुपया चश्मे के साथ मुझे दे दिया।

मैंने चुपचाप चश्मा जेब में डाला। हबूड़िन चली गई। मेरे होश उस समय ठिकाने नहीं थे। मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि हबूड़िन इस प्रकार लोगों को लूट सकती है। इतने सुंदर रूप में कितनी कटुता भरी थी।

उस दिन मैं कुछ मोल न ले सका। अनमना-सा होस्टल लौट चला। राह में मेरा एक मित्र मिला। हृदय को कुछ सांत्वना हुई। मैंने सारी कथा उसे सुनाई। वह हँसा, और बोला—"तुम बड़े मूर्ख हो। ये हबूड़े तो सदैव इसी प्रकार बल-पूर्वक डराकर रुपया लेते हैं। इनसे बचने का सबसे सरल उपाय यह है कि इनसे कभी बात न करे।"

मैंने कहा—"मुझे क्या मालूम था, नहीं तो मैं भी वैसा ही करता। अच्छा, अगली बार से इन्हें कभी मुँह न लगाऊँगा।"

समय की गोद में कुछ दिन और खेल गए। मैं फिर चौक पहुँचा। जैसे ही उस दूकान के समीप गया, मालूम नहीं, कहाँ से फिर वही हबूड़िन मेरे सामने आई। मैंने उसे देखते ही मुँह फेर लिया।

वह बड़ी नम्र वाणी में बोली—"बाबू!"

मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया; परंतु वह चुप न हुई। मालूम नहीं, कैसे मेरे नेत्र उसकी ओर उठ गए। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। देखा, वह रो रही थी। उसके काननचारी नयन अपनी मूक भाषा में मुझसे बिनती करने लगे।

मैंने पूछा—"क्या है?"

उसने कहा—"मैं इस वक्त तुमसे रुपया लेने नहीं आई हूँ; लेकिन मेरी एक बात सुन लो! ज़रा अकेले में चलो।"

मैं मंत्र-मुग्ध की तरह उसके पीछे हो लिया। उसने कहा—"बाबू! मेरा अब्बा बहुत सख़्त बीमार है, मैं अकेली हूँ, बदनसीब हूँ, कुछ नहीं कर सकती। लोग मेरी बात नहीं सुनते, तुम चलकर देख लो, उसे दवा दिलवा दो। तुम्हारी इस मेहरबानी का बदला तुम्हें ख़ुदा देगा।"

मैंने पूछा—"क्यों, क्या तुम्हारे और साथी नहीं हैं?"

उसने कहा—"हैं, पर यहाँ नहीं; बुरे वक़्त का कौन साथी होता है। वे लोग हरदोई गए हैं; वहीं से आगे चले जायँगे।"

मुझे हबूड़िन के शब्दों पर विश्वास नहीं हुआ। सोचा,

कोई चाल चल रही है; परंतु फिर भी उसके साथ चल दिया।

रामबाग़-स्टेशन के पास ही एक छोटा-सा तंबू तना था। इबूड़िन ने इशारे से उस ओर दिखाते हुए कहा—"यही नादिरा का घर है।"

मैंने पूछा—"नादिरा कौन?"

वह बोली—"तुम्हारी ग़ुलाम। मुझ नाचीज़ को लोग नादिरा कहकर पुकारते हैं।"

डेरे के समीप पहुँचते ही नादिरा दौड़कर भीतर घुस गई। मैंने बाहर से देखा, एक क्षीणकाय ज़मीन पर पड़ी है।

नादिरा ने पुकारा—"अब्बा!" परंतु कोई उत्तर न मिला। माथे पर हाथ रक्खा, तो बिलकुल ठंडा था। उसने कहा—"बाबू, क्या अब्बा का बुख़ार उतर गया?"

मैंने हिचकिचाते हुए बूढ़े के सिर पर हाथ रक्खा—वह मर चुका था। नादिरा पछाड़ खाकर अपने अब्बा के शव पर गिर पड़ी। मैंने उसे समझाया, रोने को बहुत वक्त पड़ा है, पहले इसे दफ़नाने की तैयारी करो। मेरी बात उसकी समझ में आ गई; परंतु उसके पास इस समय केवल साढ़े चार आने पैसे थे। मेरे पास एक दस रुपए का नोट था। वह मैंने उसे दे दिया। इसके अतिरिक्त मैं कुछ नहीं कर सकता था; इसलिये चुपचाप नादिरा को छोड़ मैं बोर्डिंग लौट आया।

उस दिन के बाद से मेरा मन पढ़ाई से विरक्त रहने लगा।

जिस समय पुस्तक खोलकर पढ़ने बैठता, नादिरा की मोहिनी मूरत पुस्तक के पृष्ठों पर नृत्य करती दृष्टिगोचर होती। विवश होकर पुस्तक बंद करनी पड़ती। मैं अपनी इस दुर्बलता के लिये अपने को धिक्कारता। हृदय और अंतरात्मा में द्वंद्व मचा था। कितनी ही बार मैं नादिरा के हाल-चाल पूछने उसके डेरे के समीप तक गया; परंतु फिर लौट आया। अंतरात्मा मुझसे कहती—"तेरी वह कौन है, जिसके लिये तू दीवाना बना फिरता है?" मैं मूक रह जाता। उत्तर न देते बनता। ख़ैर, किसी प्रकार दिन व्यतीत होने लगे।

एक दिन झुटपुटे के समय मैं होस्टल के हाते में चक्कर काट रहा था। सब लड़के खेल चुकने के उपरांत अपने-अपने कमरे में लौट गए थे। मैदान ख़ाली पड़ा था। घूमते-घूमते मैं बाहर निकला। इच्छा हुई, नादिरा के डेरे की एक झलक देख आऊँ। पैर चल पड़े। होस्टल से रामबाग़ दो मील की दूरी पर था; परंतु मालूम नहीं, कैसे मैं बहुत जल्दी वहाँ पहुँच गया। देखा, नादिरा का डेरा उखड़ चुका था। वह एक दीपक जलाकर खुले में बैठी कुछ कर रही थी। मैं अपने को रोक न सका। पुकारा—"नादिरा!"

नादिरा चौंक पड़ी। उसने मुड़कर कहा—"बाबू!"

मैं चुप रह गया।

वह बोली—"ख़ुदा की मेहरबानी से तुम आ गए। मैं चौक में तुम्हें रोज़ ढूँढ़ती थी। सोचा था, चलने से पहले एक

बार और तुम्हारी मेहरबानियों के लिये शुक्रिया अदा कर दूँ; लेकिन जब नाउम्मीद हो गई, तो लौटकर हरदोई जाने की तैयारी करने लगी।"

मैंने चौंककर पूछा—"तो क्या तुम अभी जा रही हो?"

"हाँ, इसी रात को। अब मैं अकेली यहाँ रहकर क्या करूँ, अपने साथियों को ढूँढ़ूँगी। बाबू, यही हमारी ज़िंदगी है।"

मैं चुपचाप खड़ा सुन रहा था। वह बोली—"बाबू, मैं तुम्हारे लिये कुछ चीज़ लाती हूँ, ठहरे रहना। वह जाकर अपना बकस खोलने लगी। चाँद निकल आया था। उसकी हल्की रोशनी में मैंने नादिरा की वेश-भूषा देखी। आज वह लाल छींट का लहँगा पहने थी। बदन पर एक लंबा-सा कुरता और उसके ऊपर कलाबत्तू की अशर्फ़ी पड़ी हुई जाकेट। उसके सिर पर काला रूमाल बँधा था, और लंबी-लंबी दो चोटियाँ कमर के नीचे लटक रही थीं।

कुछ ही क्षणों में मैंने यह सब देख लिया। नादिरा ने ईरानी मोतियों की एक चमकती हुई माला मुझे देते हुए कहा—"यह तुम अपनी बीवी को देना।" उस समय तक मेरा विवाह नहीं हुआ था; परंतु तब भी मैंने हाथ बढ़ाकर वह माला ले ली।

फिर नादिरा ने एक बंद काठ का डिब्बा मेरे सामने रखते हुए कहा—"और यह तुम्हारे लिये है बाबू, नादिरा को भूल न जाना।" उसकी आँखें डबडबा आईं।

उसके इन शब्दों में कितनी विनय भरी थी। मैं चुपचाप नत-मस्तक खड़ा इस बात का अनुभव कर रहा था। उसने आवेग में आकर मेरा हाथ पकड़ लिया। मैंने उसकी ओर देखा, उसके सतृष्ण नेत्र भी मेरी ओर लगे थे। वह बोली—"ख़ुदा हाफ़िज़।" दो बड़े-बड़े मोती गालों पर से ढुलक गए।

मैं भी बोल उठा—"ख़ुदा हाफ़िज़।"

उसके उपरांत मैं लौट आया। कमरे में आकर नादिरा की दी हुई भेंट देखने की इच्छा से मैंने डिब्बा खोला। एक रेशमी रूमाल में कुछ नोट बँधे थे। मैं समझ गया, जितने रुपए मैंने उसे दिए थे, वे सब उसने लौटा दिए। वह मेरी ऋणी न रह सकी; परंतु मुझे ऋणी बना गई।

कल्पना ने मुझे मेरे गत जीवन के कितने ही सुंदर-सुंदर चित्र दिखाए; परंतु अब वह थक गई थी, इस कारण अपनी पोटली बाँधकर चल पड़ी। मैंने देखा, रात बहुत जा चुकी है। नीचे उतर आया।

पत्नी ने पूछा—"इतनी देर से अकेले ऊपर बैठे क्या देख रहे थे?"

मैंने कहा—"अतीत के चित्र!"

चाँदनी रात में मेरी पत्नी के गले में वह ईरानी माला चमक उठी। यही उसका सुहाग था।

कुछ श्रेष्ठ उपन्यास

मा

(द्वितीयावृत्ति)

श्रीविश्वंभरनाथजी 'कौशिक' की प्रभावशालिनी क़लम की शक्ति को कौन नहीं जानता। हिंदू-समाज की व्याधियाँ उनकी क़लम में क़ैद रहा करती हैं। वह उनका जैसा भाग्य-निर्णय कर डालते हैं, हिंदी के दूसरे लेखक वैसा बहुत कम कर पाते हैं। उन्हीं कौशिकजी की क़लम का यह उपन्यास एक चमत्कार है। लखनऊ की रंडियों की, वहाँ के खूबसूरत अमीरज़ादों की और गुंडों की, चौक की तंग गलियों में रहनेवाली ख़ानगियों की अगर देखना चाहते हों वे मीठी रंगरलियाँ कि जिनके लिये लखनऊ इतना मशहूर है, यदि आप देखना चाहते हैं कि मा का अनुचित लाड़-चाव किस प्रकार पुत्र के पतन का एक भयंकर मार्ग हो जाता है, तो अवश्य इस अत्यंत मनोरंजक उपन्यास को पढ़िए। दूसरी ओर यदि आप देखना चाहते हैं कि एक दृढ़-चित्त माता के उपदेशों से ग़रीबी में भी पला हुआ एक नौजवान कैसा सच्चरित्र निकलता है, वह कैसे अपने रंडीबाज़ भाई और बहनोई का उद्धार करता है, किस प्रकार रंडियों को भी ठिकाने लगाता है, तो अवश्य इस उपन्यास को

पढ़िए। आईने से भी साफ़ चरित्र-चित्रों की यह गैलरी आपको बरसों याद रहेगी। एक बार इसे देखिए तो। मूल्य २), सजिल्द २॥)

बिदा

(द्वितीयावृत्ति)

लेखक, श्रीयुत प्रतापनारायण श्रीवास्तव बी० ए०, एल्-एल्० बी०। यह बिलकुल अप-टू-डेट, शिक्षाप्रद, मौलिक, सामाजिक उपन्यास है। इस उपन्यास का कथा-प्रसंग इतना मनोरंजक है कि एक बार पुस्तक हाथ में लेने से फिर विना समाप्त किए जी नहीं मानता, और पढ़कर भी पुनः पढ़ने की लालसा बनी रहती है। भाषा-सौष्ठव और भाव-व्यंजना के साथ-साथ चरित्र-चित्रण भी इतना ग़ज़ब का हुआ है कि एक-एक चरित्र आँखों के सामने आकर बायसकोप का मज़ा दिखाता है। मा का चित्र तो अद्वितीय ही हुआ है—यहाँ तक कि दावे के साथ कहा जा सकता है कि अभी तक हिंदी क्या, तमाम भारतीय भाषाओं के किसी उपन्यास में नहीं हो सका है। अनरूपादेवी की 'मा' से भी कहीं बढ़कर हुआ है। निर्मल का चरित्र भी एक पहेली-सा है, लेकिन वह भी बहुत ऊँचे उठा है। और चपला, चपला का उत्सर्ग, चपला का निस्स्वार्थ प्रेम लेखक की ग़ज़ब की कल्पना का नमूना है। कुमुदिनी एक साधारण गर्विणी स्त्री है, लेकिन उसका भी चरित्र एक नूतनता लिए हुए

है। केट-उपनाम मिस स्मिथ का चित्र मनोमुग्धकारी है। लज्जा एक आदर्श भारतीय नव-वधू का चित्र है। पुरुष-चित्रों में भी माधव बाबू और मिस्टर वर्मा का चित्र बड़ा ही मनोरंजक हुआ है। लेखक ने अपनी कल्पना-शक्ति से नई रोशनीवालों की प्रिय 'डाइवोर्स'-प्रथा के भयंकर परिणाम का आभास-मात्र दिया है, और यह बतला दिया है कि डाइवोर्स की प्रथा भारत-ऐसे देश में काम में नहीं लाई जा सकती। प्रत्येक उपन्यास-प्रेमी तथा सुधारों के पक्षपाती को यह उत्कृष्ट उपन्यास अवश्य पढ़ना चाहिए। पुस्तक में चार सुंदर चित्र भी दिए हैं। छपाई-सफ़ाई, काग़ज़ आदि की सुंदरता के लिये तो कार्यालय का नाम है ही, ४२५ पृष्ठों से भी अधिक पोथे का मूल्य केवल २।।), सजिल्द ३)

हृदय की परख

(तृतीयावृत्ति)

लेखक, हिंदी के सुप्रसिद्ध लेखक प्रोफ़ेसर चतुरसेनजी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य। भला ऐसा कौन हिंदी-साहित्य-सेवी होगा, जो शास्त्रीजी की चित्ताकर्षक रचनाओं से परिचित न हो। शास्त्रीजी ने उपन्यास लिखने में कमाल कर दिया है। आपने इस उपन्यास में मनुष्य के विचारों को बड़े ही उत्तम ढंग से अंकित किया है। यह उपन्यास अब तक के प्रकाशित हिंदी-उपन्यासों में बहुत उच्च स्थान रखता है। इसकी उत्कृष्टता का तो यही

प्रमाण है कि थोड़े ही दिनों में इसका तीसरा संस्करण हो गया है। मूल्य १), सजिल्द १॥)

हृदय की प्यास

(द्वितीयावृत्ति)

लेखक, हिंदी के सुप्रसिद्ध लेखक प्रोफ़ेसर चतुरसेन शास्त्री आयुर्वेदाचार्य। भला कौन ऐसा हिंदी-साहित्य-सेवी है, जो शास्त्रीजी की क़लम का क़ायल न हो। शास्त्रीजी गद्य-काव्य के लिये आचार्य माने ही जाते हैं, पर साथ ही इन्होंने उपन्यास लिखने में भी कमाल कर दिया है। आपने इस उपन्यास में जिस ढंग से मनुष्य के विचारों का संघर्षण कराया है, चरित्रों के चित्र खींचे हैं, उसे देखकर हमें दृढ़ विश्वास है कि यह उपन्यास अब तक के लिखे हुए मौलिक, सामाजिक उपन्यासों में बहुत श्रेष्ठ है। रूप के मोह-पाश में फँसा हुआ, असंयमी, भावुक मित्र समाज में क्या-क्या अनर्थ कर बैठता है, इसका चित्र इस उपन्यास में जिस ढंग से खींचा गया है, वह पढ़ते ही बनता है। भावमयी भाषा, सुंदर शैली, सरल और सुबोध रचना का यह सर्वोत्तम नमूना है। मित्रता के लक्षण, सौंदर्य की विषमता, शंका की सत्यता, तज्जनित द्वेष और डाह, उसका दुष्परिणाम ही नहीं, वरन् आधुनिक शिक्षा से उत्पन्न सौंदर्योपासना, अविवेक और मतिभ्रम तथा पूर्व-संस्कार के कारण कर्तव्य-परायणता और पश्चात्ताप इसमें पढ़ते ही बनता है। गार्हस्थ्य जीवन क्योंकर

सुखी हो सकता है, आजकल के नवयुवक उसे क्यों नरक-तुल्य समझते हैं, घर की लक्ष्मी को छोड़कर कूड़े-कर्कट की ढेरी पर क्यों दृष्टि गड़ाते रहते हैं इत्यादि जीवन के कतिपय जटिल प्रश्नों का शास्त्रीजी ने बड़ी ख़ूबी और योग्यता के साथ समाधान किया है। यह सब होते हुए भी इसका प्लॉट ऐसी ख़ूबी से रचा गया है कि उपन्यास को एक बार हाथ में लेने पर क्या मजाल कि आप खाना-पीना न भूल जायँ, और उसे समाप्त किए विना छोड़ दें। एक बार इसे मँगाइए, और स्वयं पढ़िए, अपनी गृहिणी को भी पढ़ाइए। ६ रंगीन और सादे चित्रों से सुशोभित इस अमूल्य पुस्तक का मूल्य केवल २), सजिल्द २॥)

ख़वास का ब्याह

लेखक, हिंदी के सुप्रसिद्ध लेखक प्रोफ़ेसर चतुरसेनजी शास्त्री। शास्त्रीजी की लेखन-शैली उनके उपन्यासों में ख़ूब गठी हुई रहती है। यदि आप इनकी शैली को उत्कृष्टता की सीमा पर देखना चाहते हों, तो इनकी प्रकाशित इस रचना को पढ़िए। यह उपन्यास चंदबरदाई-कृत 'पृथ्वीराज-रासो' के आधार पर लिखा गया है। पृथ्वीराज तथा संयोगिता की प्रेम-कथा इस उपन्यास का विषय है। इसमें आपको प्राचीनता के साथ नवीनता भी मिलेगी, और घटना-वचित्र्य के साथ एक सुंदर, सरस, उछलती तथा वेगवती और गुदगुदी उत्पन्न कर देनेवाली शैली भी। इसे अवश्य पढ़िए। यह